॥ श्री हितं वन्दे ॥
॥ श्रीराधावल्लभो जयति ॥
एकान्तिक-वार्तालाप
(महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर)
भाग-१

॥ श्री हितं वन्दे ॥

॥ श्रीराधावल्लभो जयति ॥

एकान्तिक-वार्तालाप

(महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर)

भाग - १

सम्पादक एवं संकलनकर्ता

श्रीहित कृपापात्र

प्रेमवल्लभा शरण

प्रकाशक

श्री हित राधा केलि कुञ्ज ट्रस्ट,

परिक्रमा मार्ग, वृन्दावन २८११२१

जिला - मथुरा (उत्तर प्रदेश)

Contact No. +919760622740, 9997184155

Web: vrindavanrasmahima.com

Email : radhakelikunj@gmail.com

कार्तिक सुदी तेरस, सन् २०१९

श्रीराधावल्लभलाल जू का पाटोत्सव

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ

सहयोग राशि – ७५ रुपये

श्रीहित राधावल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तक रसिकाचार्य वंशीस्वरूप
श्रीहित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु जी

रूप-वेलि प्यारी बनी, प्रीतम प्रेम-तमाल ।
दोउ मन मिलि एकै भये, श्रीराधाबल्लभलाल ॥

नमो नमो गुरु कृपा निधान

सम्पादकीय निवेदन

अगाध भवाब्धि में डूबते हुए जीव के लिए जहाजस्वरूप संत-जन ही अवलम्ब हैं, बिना इनके पादपद्मों के आश्रय के किस साधन में इतनी सामर्थ्य है जो हमें अपने अंशी (प्रभु) से मिला सके अर्थात् अत्युत्कृष्ट साधना भी बिना महत्कृपा के भगवत्प्राप्ति नहीं करा सकती । श्रीमद्भागवत में श्रीजड़भरतजी राजा रहूगण से कहते हैं -

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

'हे रहूगण ! भगवान् तपस्या, यज्ञ, संन्यास या गृहस्थ-धर्म का पालन करने से भी नहीं मिलते और न ही वेदाध्ययन, अग्नि-सूर्यादि की उपासनाओं को करने से मिलते हैं, जब तक किसी महापुरुष की चरण-रज में स्नान नहीं किया गया अर्थात् उनके शरणागत नहीं हुए तब तक प्रभु-प्राप्ति दुर्लभ है ।'

महापुरुषजन साक्षात् प्रभु-कृपा-वपु हैं **'कृपा रूप जु वपु धर्यौ'** इसीलिये अहैतुकी कृपा-करुणा करना उनका सहज स्वभाव है । इसी कृपाशक्ति के परवश होकर जीव-जगत् के कल्याणार्थ सत्संग सरिता उनके द्वारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है क्योंकि संसृति का नाश सत्संग से ही सम्भव है -

बड़े भाग पाइब सतसंगा । बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा ॥
पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अन्ता ॥

सत्संग का फल है - संसृति चक्र का नाश हो जाना, संसार के प्रति महत्त्वबुद्धि, सत्यत्वबुद्धि और सुखबुद्धि का नाश हो जाना ।

इसी दृष्टिकोण से श्रीश्यामा-श्याम के नाम-रूप-लीला-धाम के अनन्य निष्ठ एवं श्रीप्रिया-प्रियतम के नित्य-विहार रस में निमज्जित, रसिक संत सद्गुरुदेव **परम पूज्य श्री हित प्रेमानंद गोविंद शरण जी महाराज**, जब स्वमुखाम्बुज से दैनिक प्रातःकालीन सत्संग में 'वृन्दावन-रसरीति सम्बन्धी' सरस कथा-सुधा मन्दाकिनी प्रवाहित करते हैं तो श्रीप्रियाजू के कृपापात्र अनेकों रस पिपासुजन श्रवण-पुटों में भर-भरके अतृप्त होकर के उसका नित्य पान करते हैं । तत्पश्चात् श्रोताओं के हृदय में जो जिज्ञासायें उत्थित होती हैं, पूज्य महाराजश्री सत्संगोपरांत **'एकान्तिक-वार्तालाप'** में उनका भी समाधान करते हैं; क्योंकि साधक को सुलझना आवश्यक है, बिना सुलझे साधक या उपासक परमार्थ-पथ पर अग्रसर ही नहीं हो सकता है ।

अतः उपासकों के विशेष आग्रह पर जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का महाराजश्री के द्वारा जो समाधान किया गया, उन्हीं महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरों का यहाँ संकलन किया गया है ।

आशा है कि यह ग्रन्थरत्न साधकों को सुलझने में सहायक सिद्ध होगा ।

वृन्दावन
दिनाँक १०.११.२०१९

श्रीहित कृपापात्र
प्रेमवल्लभा शरण

॥ श्री हितं वन्दे ॥

॥ श्रीराधावल्लभो जयति ॥

प्र०-गुरुदेव, हृदय में प्रभु से मिलने की व्याकुलता कैसे बढ़े ?

समाधान - जो श्रीप्रिया-प्रियतम से मिलन के लिए व्याकुल है, ऐसे किसी भगवत्प्रेमी रसिक संत का संग करना प्रारम्भ कर दो, ये छुआछूत का रोग है उनके संग से तुम्हारे अन्दर भी आ जाएगा । भगवत्प्रेमियों के संग के बिना व्याकुलता आ ही नहीं सकती -

रे मन रसिकनि संग बिनु, रंच न उपजै प्रेम ।
या रस कौ साधन यहै, और करौ जिनि नेम ॥
दंपति-छबि में मत्त जे, चाहत दिन इक रंग ।
हित सौं चित चाहत रहौ, निशि-दिन तिनकौ संग ॥

(श्रीबयालीसलीला)

'अर्थात् चाहे जितना नियम साधन कर लो लेकिन रसिकों का संग किये बिना प्रेम छटा का लेश भी प्राप्त नहीं हो सकता है, प्रेम-प्राप्ति का एकमात्र साधन रसिक संतों का सत्संग ही है । अतः जो श्रीश्यामा-श्याम की रूप-माधुरी में मग्न हैं या जो श्रीश्यामा-श्याम की रूप माधुरी में मग्न होना चाहते हैं रात-दिन ऐसे ही रसिकों के संग की चाह करो ।'

श्रीनारदजी महाराज ने भी 'भक्तिसूत्र' में यही कहा – **'तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥'** उस (महत्संग) की ही साधना करो,

अर्थात् भगवत्प्रेम की प्राप्ति के लिए भगवत्प्रेमी महापुरुषों के संग की ही प्रबल चाह करो ।

यहाँ तक कि प्रभु के संग से भी व्याकुलता नहीं प्राप्त होती है, श्रीउद्धवजी श्रीकृष्ण के साथ ही हर समय रहते हैं लेकिन अभी ज्ञानी उद्धव हैं, प्रेमी उद्धव नहीं; जब प्रेम-स्वरूपा ब्रजगोपियों का संग मिला, वे उनकी चरणरज में लोटे, तब वे प्रेमी उद्धव बने ।

सुनि-सुनि ऊधो प्रेम मगन भयो ।
लोटत धर पर ज्ञान गरब गयो ॥ (श्रीसूरदासजी)

इसलिए भगवद्दर्शन प्राप्त हो जाने से भी बड़ी चीज है भगवत्प्रेमी महात्माओं का संग प्राप्त हो जाना । कितने ऐसे भक्त हुए हैं जिन्होंने भगवत् साक्षात्कार करने के बाद भी प्रभु से यही माँगा कि हमें अपने प्रेमी-भक्तों का संग दे दो । भगवान् शंकर स्वयं प्रभु से याचना करते हैं -

बार-बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/१४)

हिताचार्य श्रीहरिवंश महाप्रभु जी कहते हैं -

जैश्रीहित हरिवंश प्रपंच बंच सब, काल-व्याल कौ खायौ ।
यह जिय जानि श्याम-श्यामा-पद-कमल-संगी सिर नायौ ॥

(श्रीहितचतुरासी ५९)

श्रीहितध्रुवदासजी ने भी कहा -

जहँ जहँ पिय की बात सुनैं, खोजत तिन गैंनर्निं ।
छिन-छिन प्रति 'ध्रुव' लेत, प्रेम-जल भरि-भरि नैनर्निं ॥

(श्रीबयालीसलीला)

जो भगवत्प्रेमी महात्माजन श्रीप्रिया-प्रियतम की चर्चा कर रहे हैं, उस चर्चा को सुनने का अगर चाव बढ़ जाए तो हमारे अन्दर प्रिया-प्रियतम से मिलने की निश्चित व्याकुलता आ जायेगी ।

बार-बार हम जिसकी चर्चा सुनते हैं तो उससे मिलने की आकाँक्षा हृदय में स्वतः आ ही जाती है । जैसे रुक्मिणी जी ने श्रीकृष्ण को देखा नहीं था केवल उनके गुणों को ही सुना था, इतने से ही उन्हें श्रीश्यामसुन्दर से प्रेम हो गया था ।

ऐसे ही जब हम भगवत्प्रेमी महात्माओं के द्वारा प्रियालाल के स्वभाव, रूप-माधुरी, गुण-माधुरी आदि की चर्चा निरन्तर सुनेंगे तो उनसे मिलने की मन में स्वयमेव तीव्र चाह पैदा हो जायेगी ।

प्र०- महाराज जी ! देहभाव से ऊपर कैसे उठें ?

समाधान - जब हमारा चित्त शरीर-संसार का चिंतन छोड़ दे और प्रियालाल के चिन्तन में तन्मयता को प्राप्त हो जाए, बस यही देहभाव से रहित होना है । जैसे रासपंचाध्यायी में कृष्णान्वेषण करते समय ब्रज-गोपियों की दशा का श्रीशुकदेवजी वर्णन कर रहे हैं -

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(श्रीमद्भागवत १०/३०/४४)

'उनका मन कृष्णमय हो गया, वाणी से कृष्णचर्चा कर रही हैं, शारीरिक चेष्टाएँ भी कृष्णलीला सम्बन्धी हो रही हैं और वे श्रीकृष्णलीला का गान करती हुयी कृष्णस्वरूप ही हो गयीं; उस समय उन्हें अपने देह (शरीर) एवं गेह (घर-परिवार) की सुधि विस्मृत हो गयी ।' यही है देहभाव से रहित अवस्था का स्वरूप ।

'अपनी हू सुधि न रही एक रह्यौ नन्दलाल ।'

लेकिन यह स्थिति सतत् अभ्यास के द्वारा ही आयेगी -

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना । (श्रीमद्भगवद्गीता ८/८)

अर्थात् हमारी वाणी से निरन्तर नामजप चलना चाहिए, चित्त से निरन्तर श्रीश्यामा-श्याम के चरणारविन्दों का चिंतन होना चाहिए, हमारी श्रवणेन्द्रिय यह नियम ले ले कि प्रियालाल के यश के सिवाय हम कुछ भी नहीं सुनेंगे; कर्मेन्द्रियों से जो भी कर्म करेंगे श्रीप्रियालाल को सुख पहुँचाने के लिए ही करेंगे और हृदय से हमारा आश्रय-स्थल यानि विश्राम-स्थल श्रीवृन्दावन धाम रहेगा । अगर इस प्रकार से सतत् अभ्यास किया जाए तो धीरे-धीरे हमारा देहभाव नष्ट होने लगेगा ।

प्र०-गुरुदेव, मुझे वृन्दावनधाम का वास तो मिल गया किन्तु अभी मेरे अन्दर परदोष-दर्शन की वृत्ति बनी हुयी है, वह कैसे नष्ट हो ?

समाधान - इसमें एक बात ध्यान रखना है कि अगर प्रभु के सिवाय कोई दूसरा हो तो हम परदोष-दर्शन करें; वेद-शास्त्र कहते हैं -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥

(ईशावास्योपनिषद् १)

'अर्थात् जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से व्याप्त है ।' एक कण भी ऐसा नहीं जो ईश्वर न हो -

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥ (निरालम्बोपनिषद्)

ब्रह्म के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है ।

श्रीमद्भगवद्गीताजी भी कहती हैं - **'वासुदेवः सर्वमिति ॥'** (७/१९)

श्रीरामचरितमानसजी में भी लिखा है कि संसार में जितने जड़-चेतन जीव हैं, सब सीता-राममय हैं -

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥

(श्रीरामचरितमानस १/७)

पुराण वेत्ता ऋषि कहते हैं -

चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत् । (पद्मपुराण)

चित्-अचित् यानी जड़-चेतन सारा जगत् श्रीराधा-कृष्णमय है ।

आचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी कहते हैं कि 'तात्त्विक दृष्टि से समस्त रूपों में मेरे ही आराध्यदेव हैं, ऐसी मेरी दृढ़ मति है ।'

सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि २६४)

किसी भी महापुरुष की वाणी उठाकर के देख लो, यही बात लिखी मिलेगी । इसलिए एक बात अच्छी तरह से समझ लो कि आराध्यदेव के सिवाय किंचिन्मात्र कुछ भी नहीं है । श्रीमद्भागवत में वर्णित चतुःश्लोकी में स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा जी से कहा है -

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(श्रीमद्भा० २/९/३२)

'सृष्टि से पूर्व केवल मैं ही था । सत्-असत् या उससे परे मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था, सृष्टि न रहने पर प्रलयकाल में भी मैं ही रहता हूँ ।'

अतः बीच में जो कुछ भी दिखाई पड़ रहा है वह भी प्रभु ही हैं । ये बात सब शास्त्रों ने और सभी महापुरुषों ने अनुभव किया है; बिना इसके अनुभव के अध्यात्मपथ में कोई आगे बढ़ ही नहीं सकता; चाहे वो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, गोपी भाव या सहचरी भाव; किसी भी भाव का उपासक हो, पहले 'सर्वत्र

भगवद्दर्शन' ये अवस्था आना जरूरी है क्योंकि ये है शांत रस; यहाँ से वृत्ति शांत हो जाती है कि एकमात्र मेरे प्रभु के सिवाय कोई नहीं । जब ऐसा भाव बन जाएगा तो फिर किस पर दोष-दर्शन करोगे, किसकी निंदा करोगे । भगवान् कपिलदेवने श्रीमद्भागवतमें कहा है -

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥

(३/२९/२१,२२)

'जो विविध प्रकार की सामाग्रियों से प्रतिमा में तो मेरी खूब पूजा-अर्चना करता है लेकिन बाहर मैं ही सब जीवों के रूप में हूँ उनसे द्रोह करता है, उसकी पूजा ऐसी हुई जैसे राख में किया हुआ हवन; अर्थात् निष्फल हो गई ।' घर में बैठकर प्रभु के श्रीविग्रह की खूब सेवा-पूजा करो और बाहर किसी भी प्राणी की निंदा करो, उसका अपमान-अनादर करो तो इससे क्या प्रभु प्रसन्न होंगे, कभी नहीं होंगे; इसीलिये सभी महापुरुषों ने सावधान किया है ।
श्रीबिहारिनदेवजू महाराज कह रहे हैं -

अब हौं कासौं बैर करौं ।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख तें, घट-घट हौं बिहरौं ॥

यही भाव श्रीकबीरदास जी ने भी कहा है -

घूँघट के पट खोल रे, तोहे पीऊ मिलेंगे ।
घट-घट मैं तेरे साईं बसत हैं, कटुक बचन मत बोल रे ॥

ये हमें ध्यान रखना है कि हम जिसके दोष देख रहे हैं, वह हमारा ही आराध्यदेव है, आराध्यदेव में कोई दोष है क्या? दोष तो

अपना है जो हम परदोषदर्शन कर रहे हैं । इसलिए पहले अपना दोष दूर करो । साधक को केवल इतना ही सोचना है कि मैं ही एक साधक हूँ और सब साध्य-वस्तु है, यही सच्ची अनन्यता है । प्रभु श्रीराम श्रीहनुमानजी से कह रहे हैं -

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(श्रीरामचरितमानस ४/३)

यही बात जब आप जान गए तो आप सिद्ध हो गए लेकिन जब तक ये बात अनुभव में नहीं आई तो साधना इसी बात की है कि सब रूपों में हमारा प्रियतम ही है, ये भाव दृढ़ हो जाय । श्रीहितजू महाराज कहते हैं -

ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां सम्भाष्यदृश्याश्च ये,
सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि २६४)

'जो क्रूर हैं, दुष्ट हैं, पापी हैं, संभाषण करने योग्य नहीं हैं, देखने योग्य नहीं हैं, ऐसे लोग भी साक्षात् मेरे श्रीराधावल्लभलाल ही हैं; ऐसी मेरी दृढ़ मति है ।'

हम सब उपासकों को ऐसा ही भाव बनाना है । देखो, हम सब लोग कोई राजनेता नहीं हैं कि यहाँ-वहाँ की कमियाँ देखें, हम सब लोग उपासक हैं; हम उपासना के द्वारा उपास्य-तत्त्व में तन्मय होने के लिए इस मार्ग पर चल रहे हैं, हमें अपने भाव को देखना है न कि दूसरे की कमियों को । 'यहाँ ये कमी है, वहाँ वो कमी है', - ये सब प्रपंच है । ये सब बातें साधु-स्वभाव में नहीं होनी चाहिए । साधु-स्वभाव तो ऐसा हो **'जित देखूँ तित श्याममयी है'** एकमात्र

सर्वत्र हमारा प्रियतम ही दिखाई पड़े । अगर कहीं भी दोषदर्शन हो रहा है तो अभी हमारी उपासना में कमी है, उपासना ढंग से नहीं हो रही है, सम्यक् रूप से जब उपासना चलने लगेगी तो धीरे-धीरे ऐसा भाव बनने लगेगा -

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/११२)

अतः जब सर्वत्र हमारा आराध्य देव ही है तो हम किसका विरोध करें, किसकी निन्दा करें, किसके दोष देखें ।

जो भागवत-धर्म (वैष्णव-धर्म) है, वह यही है - सबमें (चराचर जगत् में) आराध्य देव का भाव रखना -

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

(श्रीमद्भागवत ११/२/४५)

'आत्मस्वरूप प्रभु समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से स्थित हैं और समस्त प्राणी एवं पदार्थ आत्मस्वरूप प्रभु में अध्यस्त रूप से स्थित हैं, अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं, ऐसा जो देखता है वह उत्तम कोटि का भागवत है ।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ६/३०)

'जो पुरुष मुझे सर्वत्र (कण-कण में व्याप्त) देखता है और मुझमें सम्पूर्ण सृष्टि को देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य यानी उसकी दृष्टी से ओझल नहीं होता हूँ और न ही वह भक्त मेरे लिए अदृश्य यानी मेरी दृष्टी से दूर होता है ।'

इसलिए किसी के दोष क्या देखना, कौन सा दोष देखना; चश्मा हम जिस रंग का लगाते हैं उसी रंग का संसार दिखाई पड़ने लगता है । संसार पीला-नीला नहीं है, हमारा चश्मा वैसा है । दोष हमारे चश्मा में है न कि संसार में । संसार में तो सर्वत्र प्रभु विराजमान हैं ।

यदि हम सत्संग के द्वारा चश्मा अर्थात् दृष्टि बदल लें तो परदोषदर्शन की वृत्ति सदा के लिए नष्ट हो जायेगी और सर्वत्र भगवद्भाव की सिद्धि हो जायेगी । भाव-दृष्टि की प्राप्ति सत्संग से होती है, बोले - सृष्टि कैसी ? जैसी तुम्हारी दृष्टि वैसी ही सृष्टि । श्रीमद्भागवत में प्रसंग आया है कि जब प्रभु श्रीकृष्ण कंस के रंगशाला में पधारते हैं तो वहाँ उपस्थित विभिन्न प्रकृति के लोगों ने उनका दर्शन अपनी-अपनी भावना के अनुसार अलग-अलग रूप में किया -

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् ।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां ।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥

(श्रीमद्भा० १०/४३/१७)

'मल्लानाम् अशनिः'-पहलवानों को कठोर वज्र की तरह; **'नृणां नरवरः'**-साधारण मनुष्यों को नररत्न; **'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्'**-स्त्रियों को मूर्तिमान् कामदेव की तरह; **'गोपानां स्वजनः'**-गोपों को स्वजन; **'असतां क्षितिभुजां शास्ता'**-दुष्ट राजाओं को शासक की तरह; **'स्वपित्रोः शिशुः'**-माता-पिता के समान लोगों को बालक की भाँति; **'मृत्युर्भोजपतेः'**-कंस को लगा जैसे साक्षात् मेरी मृत्यु खड़ी हो;

'विराट् अविदुषाम्'-अज्ञानियों को विराट् (प्राकृत) पुरुष की तरह; **'तत्त्वं परं योगिनाम्'**-योगियों को परमतत्त्व के रूप में और **'वृष्णीनां परदेवतेति'**-वृष्णिवंशियों को परमदेवता की तरह श्रीकृष्ण दिखाई पड़े।'

अब विचार करो कि प्रभु तो एक ही हैं लेकिन जिसकी जैसी दृष्टि है वैसे ही उसी रूप में वे उसे दिखाई पड़े । इसी तरह जब श्रीरामचन्द्रजी जनकपुर में धनुषयज्ञशाला में पहुँचे तो वहाँ जितने लोग बैठे थे उन सबको श्रीरामचन्द्रजी का रूप स्व-स्व दृष्टि (भावना) के अनुसार भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ा -

जिन्ह कें रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥

(श्रीरामचरितमानस १/२४१)

अतः 'सारा संसार वासुदेव है दूसरा कोई नहीं', इसी सिद्धान्त से दोषदर्शन की आदत सदा के लिए जा सकती है अन्यथा नहीं । गुण-दोषमय संसार है, जहाँ गुण हैं वहाँ दोष भी हैं, कोई ऐसा व्यक्ति-वस्तु-पदार्थ सृष्टि में नहीं, जो गुण-दोष से रचित न हो -

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

(श्रीरामचरितमानस १/६)

समस्त चराचर जगत् गुण-दोषों के द्वारा रचित है, तो क्या करें ?

सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/४१)

सच्चा विवेक यही है कि हम गुण-दोष देखें ही नहीं, एकमात्र प्रभु को देखें; यदि गुण-दोष देखते हैं तो अभी हमारे अन्दर अविवेक-अज्ञान है । श्रीमद्भागवत माहात्म्य में श्रीगोकर्ण जी ने कहा है -

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥ (४/८०)

'परदोष-गुण दोनों का चिन्तन शीघ्र छोड़कर निरन्तर सेवा-कथा रस का पान करते रहो । सत्संग से धीरे-धीरे विवेक का प्रादुर्भाव होगा और सबमें भगवद्भावना बनने लगेगी ।

प्र०-महाराजजी, प्रिया-प्रियतम की शीघ्र प्राप्ति कैसे हो ?

समाधान - दो ऐसे सशक्त साधन हैं, जिनसे हमें प्रियालाल की शीघ्र प्राप्ति हो जायेगी । **'साधन कौं हरि भजन है, कै सतसंग सहाइ ।'**

१. नित्य प्रियालाल की चर्चा श्रवण करो ।

२. खूब नामजप करो । बस, इसी से शीघ्रातिशीघ्र वो मिल जायेंगे ।

प्र०-महाराज जी, ज्ञान-प्राप्ति के लिए क्या सब शास्त्रों को पढ़ना आवश्यक है ?

समाधान - सतत् नामजप और प्रभु की शरणागति से ज्ञान-विज्ञान स्वतः (अपने-आप) हृदय में स्फुरित हो जाता है; जैसे - महर्षि वाल्मीकि जी को 'मरा-मरा' जपने से ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ कि उन्हें रामोपासना का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'वाल्मीकि रामायण' की रचना की योग्यता प्राप्त हो गयी ।

इसी तरह अर्जुन को पूर्ण शरणागति **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** से सर्वोपनिषद् सार गीता के दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हुई ।

भगवन्नाम में इतनी सामर्थ्य है कि कभी कोई 'क-ख-ग' भी न पढ़ा हो, जिसने कभी स्कूल न देखा हो, अगर ऐसा व्यक्ति भी निरंतर अभ्यास से नामाकार वृत्ति कर ले तो चारों वेद बोलने की सामर्थ्य उसके अन्दर आ जायेगी; सारे वेद उसके अन्तःकरण में

स्फुरित हो जायँगे । ये लौकिक पढ़ाई उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि 'नामजप' । श्रीकबीरदासजी ने एक पद में कहा है -

तू तो राम सुमिर जग लड़वा दे ।

कोरा कागज काली स्याही जगत पढ़त वाको पढ़वा दे ।

सतत् नामजप से विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी, विशुद्ध ज्ञान का फल है - शरीर-संसार से पूर्ण वैराग्य हो जाना और श्यामा-श्याम में प्रेम हो जाना । गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं -

संयम नियम फूल फल ग्याना । हरिपद रति रस वेद बखाना ॥

(श्रीरामचरितमानस १/७)

'संयम और नियम ये फूल हैं, उन फूलों का फल है ज्ञान और प्रभु के चरणों में प्रेम हो जाना यह ज्ञानरूपी फल का रस है ।'

प्र०-महाराज जी, वृन्दावन नित्यविहार रस की प्राप्ति कैसे हो ?

समाधान - यदि वृन्दावन नित्यविहार (नवनिभृत-निकुञ्ज-प्रेमरस) की प्राप्ति करनी है तो कुछ नियम दृढ़ता से जीवन में अपनाने पड़ेंगे; यथा - सबसे पहले महामहिमामय श्रीवृन्दावनधाम का आश्रय लें या वास स्वीकार करें और सहचरी भावापन्न रसिकाचार्यों की शरणागति ग्रहण करें, तत्पश्चात् रसिक-सन्तों का नित्य-प्रति सत्संग करें, धामवासियों पर प्रीति करें, यहाँ (धाम) की रज से नित्य शरीर को अभिषिक्त करें, यहाँ की लताओं से प्रेम करें एवं उन्हें प्रणाम करें, श्रीयमुना रसरानी में नित्य स्नान-आचमन करें, विरक्त हों तो यहाँ के व्रजबासियों के टूक (मधुकरी) पावें और यदि गृहस्थ हों तो पवित्र द्रव्य से अर्जित अन्न पावें । जो इन नियमों का प्राणपन से पालन कर लेगा, उसे श्रीप्यारीजू की दासता प्राप्त हो जायेगी और प्यारी जू के दासत्व के प्रभाव से निश्चित इस रस में उसका प्रवेश हो जायेगा ।

प्र०-महाराज जी, पवित्र और अपवित्र मन का स्वरूप क्या है ?

समाधान - पवित्र मन का लक्षण है - बिना प्रयास के निरन्तर प्रभु का चिंतन होना; श्रीसूरदासजी ने लिखा है - **'निर्मल चित्त तो सोई साँचो, कृष्ण बिना जिहिं और ना भावै ।'** और अपवित्र मन का लक्षण है - शरीर-संसार और विषय-भोग आदि का चिन्तन होना ।

मलिन मन सदैव संसार का चिंतन करता रहता है और संसार के चिंतन का फल है - दुःख, अशान्ति, बंधन, क्लेश, नारकीय यातनाओं की प्राप्ति और तदुपरान्त नारकीय योनियों में जन्म होना ।

प्र०-मेरे जीवन में पग-पग पर प्रतिकूलतायें आती हैं, मैं उनसे बड़ा दुःखी हूँ । महाराज जी, उनकी निवृत्ति का कोई उपाय बताइये ?

समाधान - जो भी अच्छी-बुरी परिस्थिति सामने आये उसमें राजी (प्रसन्न) होना सीखो; **'जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै'**, क्योंकि प्रभु मंगलभवन हैं, वह सदैव वही करते हैं जिसमें हमारा परममंगल छिपा होता है, वह चाहें भी तो भी हमारा अमंगल नहीं कर सकते हैं; जैसे सूर्य चाहकर भी अँधेरा नहीं कर सकता है, जब तक रहेगा प्रकाश ही देता रहेगा । यहाँ तक कि प्रभु ने जिनको मारा उनको भी उस परमपद की प्राप्ति हुई जो बड़े-बड़े मुनियों के लिए भी दुर्लभ है। जिन शिशुपाल आदि ने प्रभु को गालियाँ दीं उनको भी परमपद मिला, जिन्होंने प्रभु से बैर किया, प्रभु से द्रोह किया, प्रभु को कष्ट पहुँचाना चाहा उनको परमपद मिला । जो पूतना अपने स्तनों में जहर लगाकर ठाकुरजी को मारने के लिए आयी थी, उन्होंने उसको भी वह गति दी जो यशोदा जी को प्राप्त हुई ।

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाई ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराई ॥

फिर जो प्रभु से प्यार करते हैं, उनकी शरण में हैं, उनका अमंगल कैसे हो सकता है; **'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम् ।'**

इसीलये जो भगवान् के स्वभाव को जानते हैं वे हर परिस्थिति में प्रसन्न रहते हैं कि मेरे प्रभु के द्वारा किया गया हर विधान मंगलमय है । जरूर इस विधान में मेरा परममंगल छिपा हुआ है, इसीलिये प्रभु सर्वसमर्थ होते हुए भी मुझे ऐसी परिस्थिति दे रहे हैं । अतः सच्चा भक्त हर स्थिति में राजी (प्रसन्न) रहता है, कभी प्रभु से कोई शिकायत नहीं करता है ।

प्र०-महाराजजी, मैं अपने परिवार को छोड़कर धाम में वास कर रहा हूँ किन्तु मुझे उनके पालन-पोषण आदि की बड़ी चिन्ता सताती है ?

समाधान - यदि शरणागति के बाद भी चिन्ता, भय या शोक सताता है तो अभी हम 'इष्ट या गुरु' के शरणागत नहीं हैं -

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः ।
योऽसौ विश्वम्भरो देवः सः किं भक्तानुपेक्षते ॥

(पाण्डवगीता)

'प्रभु का भक्त होकर यदि कोई भोजन-वस्त्र आदि की चिन्ता करता है तो वह व्यर्थ ही चिन्ता करता है क्योंकि जो प्रभु विश्वम्भर हैं अर्थात् सारे संसार का भरण-पोषण करने वाले हैं क्या वे अपने भक्त की उपेक्षा कर सकते हैं ।' अगर शरणागति सच्ची है तो निश्चित पूर्ण बेपरवाही आ जायेगी ।

शरणागति का तात्पर्य है - **'निश्चिन्तता'** शरणागत को कोई चिन्ता नहीं सताती, यदि चिंता सताने लगे तो समझ लेना शरणागति में बाधा प्रकट हो रही है, जब सम्पूर्ण शरणागति हो जाती है तो निश्चिन्तता आ जाती है -

बनै तो रघुबर ते बनै कै बिगरै भरपूर ।
तुलसी बनै जो और ते ता बनवे में धूर ॥
एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

शरणागति का तात्पर्य है - '**निःशोकता**' यानी शोक रहित होना, किसी भी तरह का शोक शरणागत के हृदय का स्पर्श नहीं कर सकता क्योंकि उसको पता है कि सर्वसामर्थ्यवान्, सर्वाधार, सर्वाध्यक्ष, सर्वनियन्ता, सर्वानन्द-स्वरुप प्रीतम हमारे हैं, जो भी नष्ट हो रहा है उससे उसको कोई शोक होने वाला नहीं क्योंकि नाशवान का कोई भी नाश रोक नहीं सकता और अविनाशी का नाश हो नहीं सकता; इस सत्यवस्तु का ज्ञान शरणागत को हो जाता है, इसीलिये वह कभी शोक नहीं करता **'न शोचति न कांक्षति'** ।

शरणागति का तात्पर्य है - '**निर्भयता**' ज्यों ही जीव अन्दर से वास्तविक शरणागत हो जाता है तो उसका भय चला जाता है, क्योंकि उसको पता चल जाता है कि अब प्रभु के अलावा मेरा कुछ नहीं है, संसार में 'मेरेपन' के कारण ही भय लगता है, लेकिन जब ये बात समझ ली जाती है कि मेरा जो कुछ है वह सब श्रीप्रिया-प्रियतम का है और वह तो अजेय हैं, अविनाशी हैं, उनके अलावा कोई दूसरी सत्ता नहीं, उनकी सामर्थ्य हमारे पास है, इसलिये वह कभी भी भयभीत नहीं होता है । जहाँ संसार का राग है, संसार का स्मरण है वहाँ भय रहता है । अनन्तशक्ति सामर्थ्यवान् प्रभु शरणागत भक्त के पीछे उसकी रक्षा के लिए अपनी भागवतिक शक्तियों को लगा देते हैं, यद्यपि वह चाहता नहीं है लेकिन फिर भी प्रभु बड़े करुणामय हैं,

भक्तराज अम्बरीश जी के राज्य की रक्षा के लिए उन्होंने सुदर्शन चक्र को लगा दिया था ।

शरणागति का तात्पर्य है - **'संशय रहित होना'** कभी अपने आराध्यदेव पर संशय न करें कि पता नहीं वह हमारा भरण-पोषण करेंगे की नहीं, पता नहीं हमें वे मिलेंगे भी कि नहीं, पता नहीं वे हमें जानते भी हैं कि नहीं, पता नहीं वे हम पर कृपा करेंगे भी कि नहीं ।

शरणागति का तात्पर्य है - **'निर्द्वन्द्वता'** (द्वन्द्वातीत होना) । कोई भी द्वन्द्व (हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-पराजय) या कोई भी बड़ी से बड़ी विपत्ति, प्रतिकूलता या रोगादि; ये सब शरणागत भक्त के हृदय को क्लेशित नहीं कर सकते हैं; सेवकजी महाराज कहते हैं -

'भक्ति हित जे शरण आये द्वन्द–दोष जु सब घटे ।'

शरणागति का तात्पर्य है - **'विपरीत-भावना का त्याग'** कभी अपने अराध्यदेव के प्रति विपरीत भावना न करें कि हे नाथ ! मैं आपकी शरण में हूँ तो फिर संकट क्यों, मैं आपकी शरण में हूँ तो बीमारी क्यों, मैं आपकी शरण में हूँ तो हमें सामने वाला गाली क्यों दे रहा है, मैं आपकी शरण में हूँ तो हमारी निंदा क्यों हो रही है, मैं आपकी शरण में हूँ तो अमुक व्यवहार मेरे प्रतिकूल क्यों - शरणागत के हृदय में ये सब विपरीत भावना नहीं होनी चाहिये, सदा इष्ट के अनुकूल रहना ही शरणागति है -

'आनुकूल्यस्य संकल्पः' (वायुपुराण)

'अनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं' (भक्तिरसामृतसिन्धु)

शरणागत में ये बातें स्वतः आ जाती हैं - निर्भयता, निःशोक होना, निश्चिन्तता, संशय रहित होना और विपरीत भावना का त्याग ।

शरणागति जब अन्दर से पुष्ट हो जाती है कि 'मैं प्रभु का हूँ' तो उसके पुष्ट होने का लक्षण है कि हम जिनकी शरण में हैं, उनकी स्मृति स्वाभाविक होने लगे क्योंकि संसार का चिंतन होने से चिन्ता सताती है, शोक होता है, भय लगता है और नाना प्रकार के द्वन्द्व सताते हैं ।

प्र०-महाराज जी, अभी प्रभु का स्मरण करने में प्रयास करना पड़ता है, ऐसी स्थिति कब और कैसे आयेगी जब बिना प्रयास के सहज-स्वभाविक रूप से प्रभु का चिन्तन (स्मरण) होने लगेगा ?

समाधान - सच्चा भजन-चिन्तन स्वाभाविक रूप से तब होता है जब हम प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं कि *'हम प्रभु के हैं'* । जैसे हम अपने शरीर से तन्मयता किये हुए हैं कि 'मैं पुरुष हूँ या मैं स्त्री हूँ' तो क्या हमें कभी याद करना पड़ता है कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ; ब्राह्मण हूँ या क्षत्रिय हूँ; अर्थात् नहीं याद करना पड़ता अपितु स्वाभाविक ये स्मरण बना रहता है; हम ये कभी भूलते नहीं हैं हर समय ये स्मृति में बना रहता है क्योंकि हमने शरीर या वर्ण (जाति) से सम्बन्ध बना लिया है । इसी तरह से प्रभु से सम्बन्ध बना लेने से उनका चिंतन (स्मरण) स्वाभाविक रूप से होने लगता है । भले ही कोई भजन-साधन नहीं बन पा रहा है, परन्तु यदि सम्बन्ध दृढ़ हो गया कि मैं प्रियालाल का हूँ, मैं वृन्दावन का हूँ, मैं गुरुदेव का हूँ, बस यही चीज तुम्हारा कल्याण कर देगी ।

जब मरणकाल सन्निकट होता है उस समय समस्त इन्द्रियाँ शिथिल (निश्चेष्ट) हो जाती हैं लेकिन उस समय सम्बन्ध ही याद रहता है, जहाँ आपने सम्बन्ध जोड़ा है; स्त्री से जोड़ा तो स्त्री की याद आयेगी, पुत्र से जोड़ा तो उसकी याद आयेगी, अर्थात् जीवन में जो

प्रधान सम्बन्ध रहा वही अंतिम में बिना चेष्टा के याद आता है; इसीलिये प्रभु से सम्बन्ध जोड़ लेने वाले भक्त को निश्चित भगवत्प्राप्ति होती है क्योंकि अंतिम में उसे प्रभु की ही याद आयेगी ।

प्रभु की अनन्य शरणागति और उनसे सम्बन्ध स्वीकृत कर लो तो भजन करना नहीं पड़ेगा, स्वाभाविक भजन होगा । सम्बन्ध जोड़ने से तात्पर्य प्रभु से अपनापन कर लेना । भले ही हमारी समस्त क्रियाएँ (चेष्टाएँ) भागवतिक हो रही हैं लेकिन यदि सम्बन्ध संसार से बना हुआ है तो वह सच्चा भजन नहीं माना जाएगा । इसके विपरीत भले ही क्रियाएँ सांसारिक हो रही हैं लेकिन अगर सम्बन्ध प्रभु से जोड़ लिया है तो बात बन जायेगी । श्रीब्रह्माजी ने श्रीमद्भागवत में कहा है -

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

(१०/१४/३६)

'हे श्यामसुन्दर ! तभी तक राग-द्वेष आदि दोष चोरों की भाँति सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभी तक घर और उसके सम्बन्धी कैदी की तरह सम्बन्ध के बन्धनों में बाँधे रखते हैं और तभी तक मोह पैरों में बेड़ियों के समान रहता है - जब तक जीव आपका नहीं हो जाता ।'

इसीलिये बड़े-बड़े ऐसे सिद्ध भक्त भी गृहस्थाश्रम में हुए हैं, जिनके दर्शन करने के लिए बड़े-बड़े विरक्त महापुरुष जाते थे ।

श्रीअर्जुनजी ने सम्पूर्ण गीता का उपदेश सुनने के बाद कोई साधन नहीं किया, श्रीकृष्ण कहते जा रहे हैं और अर्जुन एकाग्रचित्त से सुन रहे हैं, उसका परिणाम क्या हुआ ? स्वयं अर्जुन कह रहे हैं -

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । (गीता. १८/७३) हमारे मोह का नाश हो गया, अब हमें अपने सम्बन्ध की स्मृति (याद) आ गयी कि 'मैं कौन हूँ, किनका हूँ' ये बात समझ में आ गयी ।

जैसे कोई राजकुमार अपने राज्य से बिछुड़कर जंगली कोल-भीलों के बीच पहुँच जाए और फिर वहीं उनके संग में रहने लगे तो कुछ ही दिनों में उसकी प्रकृति (स्वभाव), उसकी चेष्टाएँ उन्हीं लोगों की तरह हो जायेंगी; लेकिन जब कोई बिचौलिया (मध्यस्थ) मिले जो राजा से भी परिचित हो और कोल-भीलों से भी; वह उस राजकुमार को जाकर के समझाए कि देख तू इन कोल-भीलों के बीच बैठा है लेकिन तू तो अमुक राजा का लड़का है, चल हम तुझे तेरे पिता से मिलवाते हैं, फिर जब उसे पक्का विश्वास हो जायेगा और वह अपने परिवारवालों से मिलेगा, तब उसे अपने यथार्थ स्वरूप की स्फूर्ति होगी कि मैं राजकुमार होकर, कहाँ जंगली लोगों के बीच में भटक गया था ।

इसी तरह से हमारे माता-पिता हैं 'प्रभु' । प्रभु ने गीता जी में स्वयं कहा - **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** । (१५/७) 'तू मेरा ही अंश है' किन्तु हम प्रभु को भूलकर फँस गए हैं कोल-भीलों में अर्थात् नानात्व में । अब कोई सद्गुरु रूपी बिचौलिया (मध्यस्थ) आकर के हमें समझावे कि देख, तेरा स्वरूप क्या है - **ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी** ॥ (उत्तरकाण्ड-११७) और तेरा जो अंशी है वह कैसा है ? **'जो आनंद सिंधु सुखरासी ।'** देख, अंश-अंशी दोनों सुखरासी हैं न, इसलिए सुखरासी का बच्चा सुखरासी हुआ; कहाँ तू दुःखों में फँसा हुआ है, अर्थात् शरीर-संसार

ये दुःखमय हैं, सुखरासी प्रभु हैं चल उनकी तरफ । फिर वह चल देता है ।

अतः ये हम सबको इसलिए फँसाए हुए हैं क्योंकि हम अपने स्वरूप को भूल गए हैं किन्तु जब सद्गुरु आकर के बताते हैं अरे तू तो सच्चिदानन्द का अंश है, तब उसको स्वरूप बोध होता है, ओहो - **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।'** बस सभी साधनाओं का फल इतना ही है कि हमें याद आ जाए कि हम प्रभु के हैं, भजन का भी यही फल है - मोह का नाश होकर इष्ट के चरणों में अपनापन हो जाना ।

जो प्रश्न था कि बिना प्रयास के अखण्ड स्मरण कैसे हो तो उसका यही उत्तर है - ***'सतत चिंतन होता है अपनेपन से ।'*** जब किसी से अपनापन हो जाता है फिर उसका चिंतन करना नहीं पड़ता है, वह श्वासों में बस जाता है, यादों में बस जाता है, हृदय में बस जाता है । हम निकालना भी चाहें, भूलना भी चाहें तो भी नहीं भूल सकते । ऐसी स्थिति हो जाती है कि हम कुछ कार्य करना चाहते हैं, व्यवहार करना चाहते हैं लेकिन बार-बार स्मृतिपटल पर वही याद आता है; यही है सच्चे प्यार का स्वरूप, यही है सच्चे अपनेपन का स्वरूप । प्रभु से सहज प्रेम हो जाना अर्थात् उन्हें अपना मान लेना, ये जन्म-जन्म की साधना पूर्ण हो गयी । अभी हम ईमानदारी से अपने हृदय को टटोलकर देखें कि क्या हम वास्तविक प्रभु को प्यार करते हैं, जिससे हम प्यार करते हैं यदि उसकी जरा-सी दूरी आने की बात आ जाय तो तुरंत एक विकलता होने लगती है कि मैं इनके बिना कैसे जी पाऊँगा; अभी क्या प्रभु के लिये ऐसा प्यार आया,

जिस दिन ऐसा प्यार प्रभु से हो जाएगा उस दिन अलग ही दशा हो जायेगी, उनके बिना जीना मुश्किल हो जाएगा -

जो पै चोंप मिलन की होइ ।

तौ कत रह्यौ परै सुनि सजनी ! लाख करै जो कोइ ॥

जो पै बिरह परस्पर व्यापै तौ इह बात बनैं ।

डरु अरु लोक-लाज अपकीरति एकौ चित न गनैं ॥

'कुंभनदास' जो मन मानै तौ कत जिय औरु सुहाइ ।

गिरिधर लाल रसिक बिनु देखें पल-भर कलप विहाइ ॥

(श्रीकुम्भनदासजी)

जैसे जिन महापुरुषों को वृन्दावन धाम से प्यार हुआ वह कहते हैं कि हमारे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ फिर भी मैं वृन्दावन के बाहर जाना नहीं पसंद करूँगा -

खंड खंड है जाइ तन, अंग अंग सत टूक ।

वृंदावन नहिं छाँड़ियै, छाँड़िवौ है बड़ी चूक ॥

बसि कै वृंदाविपिन में, ऐसी मन में राख ।

प्रान तजौं बन ना तजौं कहौ बात कोउ लाख ॥

(श्रीबयालीसलीला)

इसी तरह से जिन महापुरुषों को नाम से प्रेम हुआ उन्होंने भी यही कहा, नामाचार्य श्रीहरिदास ठाकुर जी कहते हैं -

खण्ड-खण्ड हइ देह जाय यदि प्राण ।

तबु आमि वदने ना छाड़ि हरिनाम ॥

ये है वास्तविक प्यार का स्वरूप ।

प्र०-महाराज जी, प्रत्येक जीव की जो चाह है - 'सच्चे सुख यानि शाश्वत आनन्द की प्राप्ति', वह आनन्द कैसे प्राप्त होगा ?

समाधान - शाश्वत (अखण्ड) आनंद की प्राप्ति का उपाय है कि 'शरीर और संसार दुःखमय है' ऐसा विचार करते हुए -

'दुःखालयम् अशाश्वतम्' (गीता ८/१५)

'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥' (गीता १३/९)

हम नित्य सच्चिदानंद प्रभु का नाम स्मरण करें, सत्-शास्त्रों का स्वाध्याय करें, संतों का सत्संग सुनें और अधर्माचरण से बचें; यदि इतना कर लिया तो अभी आनंद की अनुभूति होने लग जायेगी क्योंकि किसी क्रिया-व्यवहार या वस्तु-व्यक्ति-पदार्थ से आनंद की प्राप्ति करनी नहीं है अपितु आनंद तो हमारा सहज-स्वरुप ही है, स्वरूपबोध होने पर स्वतः अखंडानन्द प्राप्त हो जाएगा ।

प्र०-महाराजजी, हठपूर्वक लगाने पर भी कभी-कभी मन भजन में नहीं लगता है, इसका कारण क्या है और उस समय हम क्या करें ?

समाधान - साधकावस्था में कभी-कभी भजन में मन नहीं लगता है, भजन से मन उचटता है; इसका कारण है कि हमारे अन्तःकरण में त्रिगुण (सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण) का चक्र चलता रहता है, जब अन्तःकरण में सतोगुण की वृद्धि होती है तो खूब उत्साह से भजन में मन लगता है, लेकिन जब अन्तःकरण में रजोगुण बढ़ता है तो मन में विषय-भोग सम्बन्धी अनेक कामनाएँ (इच्छाएँ) पैदा होने लगती हैं और जब तमोगुण की वृद्धि होती है तो निद्रा-आलस्य-प्रमाद आदि असत् क्रियाओं में प्रवृत्ति होने लगती है । उस समय साधक को घबड़ाना नहीं चाहिए, अन्तःकरण में जैसी भी वृत्ति आ रही है, उस वृत्ति को आदर न देते हुए साधक को हठकरके भजन करते रहना चाहिए । श्रीहितध्रुवदास जी महाराज कहते हैं -

कबहूँ तौ थोरौ भजन, कबहूँ होत बिसाल ।
मन कौ धीरज छुटै नहिं, गहै न दूजी चाल ॥

(श्रीबयालीसलीला)

कभी-कभी भजन में बहुत मन लगता है और कभी बिल्कुल भी नहीं लगता, जब भजन में मन न लगे तो बिना मन लगे हठकरके भजन करो, इससे जो गुणों का प्रवाह है वह तुम्हें परास्त नहीं कर पायेगा और यदि मन भजन में नहीं लग रहा और तुमने भजन छोड़ दिया तो जहाँ वो मन गुणों के प्रवाह में फँसा था, वह तुमसे कहीं न कहीं 'असत्-चिंतन, असत्-चेष्टा' करवा ही लेगा इसीलए साधक को सावधान रहना चाहिए, श्रीहिताचार्यचरण स्फुट-वाणी में कहते हैं -

इहिं डरहिं डरपि हरिवंश हित, जिनव भ्रमहि गुण सलिल पर ।
जिहिं नामनि मंगल लोक तिहुँ, सु हरि-पद भजु न विलम्ब कर ॥

सदा डरते रहो, कोई रजोगुण-तमोगुण आदि की फिसलन ये हमको फिसलाकर कहीं प्रभु से विमुख न कर दे, जिनका नाम तीनों लोकों का मंगल करने वाला है, ऐसे प्रभु के चरणों का सदैव चिंतन करते रहना चाहिए, रजोगुण-तमोगुण को समय नहीं देना चाहिए । हमारा मन लगे या न लगे, हमें मन की बात न मानकर एक क्षण भी भजन नहीं छोड़ना चाहिए । यदि भजन छोड़ा तो अन्तःकरण में उदित ये दुर्वृत्तियाँ (दुर्वासनाएँ) साधक की बड़ी हानि कर देंगी । इसलिए साधक को कभी भी मन के अनुसार नहीं चलना चाहिए अन्यथा वह मनमुखी हो जाएगा और मनमुखी का निश्चित पतन हो जाता है, भगवान् ने श्रीगीताजी में कहा है -

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (१६/२३)

'कामकारतः' माने जो शास्त्रविधि को छोड़कर मनमाने ढंग से चलते हैं, उनको सुख-सिद्धि और परागति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । इसलिए शास्त्र और सद्गुरु की अधीनता स्वीकार करके उनकी आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए ।

प्र०-महाराज श्री, हम गृहस्थ में (घर-परिवार के मध्य) रहकर कैसे भजन करें ?

समाधान - गृहस्थी में रहकर यदि आप 'माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि' की सेवा भी करें तो उनमें भगवद्भावना करके करें । व्यापार-नौकरी जो भी करें प्रभु की पुष्टता के लिए करें कि ये सम्पूर्ण सृष्टि प्रभु की ही है और प्रभु ने हमें आज्ञा की है 'माता-पिता, भाई-बन्धु' आदि की सेवा करने की । महाराष्ट्र में एक भक्त हुए हैं श्रीपुण्डरीकजी, उन्होंने भगवद्भाव से केवल माता-पिता की सेवा की तो श्रीठाकुरजी आज भी पंडरपुर में उनका यश प्रकट करते हुए खड़े हैं । विट्ठल भगवान् उन्हीं की सेवा से रीझकर के आये थे । इसलिए यदि कोई माँ-बाप की सेवा करे तो भगवद्भावना से युक्त होकर के, नौकरी-व्यापार जो कुछ भी करे वह भगवद् पुष्टता के लिए कि हम भगवत्-स्वरुप माँ-बाप या स्त्री-पुत्रादि के पालन-पोषण और अतिथि-संत-भक्त आदि की सेवा के लिए ये व्यापार कर रहे हैं । भगवत् सम्बन्ध जुड़ जाने के कारण वह सब गृहस्थी के कार्य भजन ही हैं ।

कुछ बातों की सावधानी रखें - 'खान-पान सात्विक हो; ऐसे लोगों का संग न हो जो बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाले हों, धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले हों ।'

इस तरह से कोई गृहस्थ में रहकर के चले तो वह गार्हस्थ्य जीवन भजनमय ही है । श्रीमद्भागवत में लिखा है -

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
मद्वार्तायातयामानां न बंधाय गृहा मताः ॥ (४/३०/१९)

'जो गृहस्थाश्रम में रहकर कुशल कर्म करते हुए प्रभु की मंगलमयी कथा-वार्ता में समय बिताते हैं, उनके लिए गृहस्थ जीवन बंधनकारी नहीं होता है ।'

अरे, जब एक चक्रवर्ती सम्राट गृहस्थी में रहकर भजन कर सकता है तो एक साधारण से गृहस्थ के पास कितनी जिम्मेदारियाँ होती हैं । जब युद्धभूमि में भजन हो सकता है, अर्जुन को भगवान् कह रहे हैं – **'मामनुस्मर युद्ध च ।'** गी. ८/७ (मेरा स्मरण करते हुए, युद्धरूपी कर्तव्य कर्म कर ।) फिर नौकरी (व्यापार) आदि तो बहुत साधारण-सी बात है, उसमें तो भजन हो ही सकता है । हम अन्दर से कृष्ण-कृष्ण सुमिरन करते हुए व्यापार या नौकरी करें । जितने भी व्यवहार हैं सब भगवान् के ही स्वरूप हैं, एक क्षण भी हम कहीं भी प्रभु से अलग नहीं हैं । जैसे हम कहीं भी रहें जीने के लिए स्वाँस लेते हैं, ऐसे ही हमारे जीवन का आधार प्रभु बन जाएँ । हम उनको भूल जाते हैं बस यही गलती हो जाती है । हमने नानात्व को स्वीकार कर लिया, इसको सत्य मान लिया प्रभु को भूल गए । प्रभु से अलग जो सत्ता मान ली वही बंधनकारक है, यदि हम समस्त क्रियाएँ, सारे सम्बन्ध प्रभु से जोड़ दें तो गृहस्थी में रहकर के भी सिद्ध हो गए ।

अगर हम एकान्त जंगल में बैठकर विषय-चिंतन करते हैं तो वह वनवास नहीं है और अगर हम घर-गृहस्थी में रहकर व्यापार-

नौकरी आदि व्यवहारिक कार्य करते हुए प्रभु चिंतन करें, प्रभु के लिए उसे मानलें तो हम निवृत्ति परायण ही हैं, प्रवृत्ति परायण नहीं हैं। प्रभु ने श्रीगीताजी में अपनी प्राप्ति का जो सुदृढ़-भाव बताया है वहाँ विरक्त या गृहस्थ कुछ नहीं कहा, प्रभु बोले -

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९/२२)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८/१४)

'ये जनाः' - 'गृहस्थ-विरक्त, ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष' - चाहे जो भी हो, यदि वह मेरा अनन्य चिंतन करता है तो वह निश्चित मुझे ही प्राप्त होगा क्योंकि अनन्यचित्त से स्मरण करने वाले के लिए मैं बहुत सुलभ हूँ ।'

अतः केवल अखण्ड-चिंतन से भगवत्प्राप्ति होती है; भगवच्चिन्तन में न गृहस्थी बाधक है और न विरक्ति सहायक । गोपियाँ कोई सन्यासिनी या वैरागिन नहीं थीं लेकिन कौन ऐसा सन्यासी या विरक्त है जो गोपियों की चरणधूलि में नहीं लोटा । श्रीशुकदेवजी से बड़ा कोई परमहंस-वैरागी नहीं है, वे भी सादर गोपियों के चरित्रों का गान कर रहे हैं, उनकी प्रसंसा कर रहे हैं -

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप

प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षण मार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो

धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(श्रीमद्भागवत १०/४४/१५)

'व्रज-गोपियाँ धन्य हैं क्योंकि इनकी चित्तवृत्ति अखण्ड रूप से श्रीकृष्ण में लगी हुयी है । ये दूध दुहते हुए, दधि मथते हुए, धान कूटते हुए, घर लीपते हुए, रोते हुए बालकों को चुप कराते हुए, उन्हें झूला झुलाते हुए, घरों को झाड़ते-बुहारते हुए अर्थात् सारे काम-काज करते हुए भी अश्रुपूरित नेत्रों से युक्त होकर के गद्गद कंठ से श्रीकृष्ण के निरन्तर गुणगान करती रहती हैं ।'

श्रीउद्धव जी जैसा कौन ज्ञानी होगा, साक्षात् बृहस्पतिजी के शिष्य हैं लेकिन वे भी गोपियों की चरणधूलि की याचना कर रहे हैं -

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ (भा. १०/४७/६३)

जगत्सृष्टा श्रीब्रह्माजी ने स्वयं ६० हजार वर्ष तक तप किया ब्रजगोपियों की चरणरज प्राप्ति के लिए किन्तु फिर भी गोपियों की चरणधूलि ब्रह्माजी को नहीं मिली –

षष्टिवर्ष सहस्त्राणि पुरा तप्तं मया तपः ।
भक्त्या नन्द ब्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ।
तथापि न मया प्राप्ता तासां वै पादरेणवः ॥

(वृहद् वामन पुराण)

यह प्रसंग श्रीध्रुवदासजी महाराज ने 'श्रीबयालीस-लीला' में भी लिखा है –

एक समै भृगु पिता सौं, प्रश्न करी यह आनि ।
करि प्रनाम ठाढ़ौ भयौ, आगैं जोरे पानि ॥
एक असंका उर बढ़ी, चित्त रह्यौ विस्माइ ।
सर्वोपरि सर्वज्ञ तुम, हमहिं देहु समझाइ ॥
नारदादि शुक से जिते, किये भक्त सब गौन ।

जाची रज ब्रज-तियन की, यह धौं कारन कौन ॥
सुनहु पुत्र समझी न तैं, रह्यौ भूलि ब्रह्म-ग्यान ।
सर्वोपरि ये हरि-प्रिया, इनकी कौन समान ॥
बहुत बरष हम तप कियौ, इनकी पद-रज हेत ।
सो रज दुर्लभ सबनि कौ, हम हूँ बनी न लेत ॥

अब बताओ, कब भस्म लगाई शरीर में गोपियों ने, कब माला लेकर जप किया । केवल **'मुरारि-पादार्पित-चित्त-वृत्तिः'** हर क्रिया (चेष्टा) करते हुए कृष्ण-चिंतन में मग्न हैं, कृष्ण चिंतन ही उनका जीवन है । ये सार बात है । उसका परिणाम क्या है? बेचना चाहती हैं दही और कह रही हैं 'गोविन्द ले ले !! माधव ले ले !! गोपाल ले ले !! क्योंकि वहीं मन लगा हुआ है -

कोई माई लै लेहु री गोपालहि ।
दधि को नाम श्यामसुन्दर रस, बिसरि गयो ब्रजबालहि ॥

अतः हमें ये चाहिए कि हम 'गृहस्थ या विरक्त' भाव पर दृष्टि न रखते हुए प्रभु के सतत् चिंतन पर दृष्टि रखें । नौकरी-चाकरी आदि में भजन करना कोई बहुत कठिन काम नहीं है । श्रीअम्बरीषजी सप्तद्वीपवती पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट थे लेकिन कितने बड़े भक्त माने गए क्योंकि उनकी दिनचर्या कितनी सुन्दर थी -

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।

(श्रीमद्भागवत ९/४/१८-२०)

'मन प्रभु के चरण-कमलों के चिंतन में निमग्न है, वाणी भगवद्-यश के वर्णन में, हाथ प्रभु के मंदिर को बुहारने आदि की सेवा में और कान प्रभु की मंगलमयी कथाओं के सुनने में लगे हुए हैं। उनके नेत्र प्रभु के श्रीविग्रह के एवं प्रभु के भक्तों के दर्शन करने में, शरीर भक्तों की सेवा में, नासिका प्रभु के चरणारविन्दों पर समर्पित तुलसीदल की सुगंधि में और जिह्वा प्रभु के उच्छिष्ट प्रसादी में लगी रहती थी । उनके पैर प्रभु के क्षेत्र (धाम) की पैदल यात्रा करने में, मस्तक प्रभु के चरणों की वन्दना करने में लगा रहता है ।'

इसलिए कोई भी सांसारिक क्रिया या प्रपंच का कार्य भी यदि प्रभु के चिंतन से युक्त होकर के, हरि या गुरु की सेवा के लिए किया जाए तो वह भी उपासना ही है । श्रीहरिपालजी 'भक्त-सेवार्थ' लूट-पाट करते थे, यद्यपि ऊपर से तो क्रिया प्रपंचात्मक दिखाई पड़ रही है लेकिन उनका उस क्रिया के पीछे भागवतिक उद्देश्य था तो लूट-पाट करने से ही उन्हें भगवान् मिल गए । इसके विपरीत वेष-भूषा और क्रिया सम्यक् होने पर भी उद्देश्य भागवतिक न होने पर, श्रीभगवतरसिक जी ने कहा है -

वेषधारी हरि के उर सालै ।
लोभी, दंभी, कपटी नट से, सिस्नोदर कौं पालै ॥
गुरु भयो घर-घर में डोलै नाम धनी कौं बेचै ।
परमारथ स्वप्नें नहिं जानै पैसन ही कौं खैंचै ॥
कबहुँक वक्ता है बनि बैठे कथा भागवत गावै ।
अर्थ अनर्थ कछू नहिं भासै पैसन ही को धावै ।
कबहुँक हरि मंदिर को सेवै करै निरन्तर बासा ।
भाव भगति को लेस न जानै पैसन ही की आसा ॥

मंदिर में भी निवास कर रहे हैं, ठाकुर-सेवा भी कर रहे हैं लेकिन मन में पैसों की आशा बनी हुई है तो उद्देश्य ठीक न होने के कारण उसे भगवदानन्द का अनुभव नहीं होगा । उद्देश्य ठीक है तो श्रीसदनकसाईजी अपना कार्य (माँस-विक्रय) करते हुए महान भक्त हैं, उद्देश्य ठीक है तो श्रीरैदासजी अपना कार्य (चर्मकारी) करते हुए महान भक्त हैं । यदि हमारा उद्देश्य ठीक है तो हम गृहस्थी में रहकर भी परम भागवत हैं और यदि हमारा उद्देश्य गलत है तो विरक्ति में रहकर के भी सबसे बड़े प्रपंची हैं । भगवान् बाहरी चीज नहीं देखते हैं, आंतरिक चीज पर उनकी दृष्टि रहती है – **'मानउँ एक भगति कर नाता ।'** भक्ति का सही स्वरूप यही है कि सदा हम अपने प्रियतम का मधुर-मधुर स्मरण करते रहें; जो भी हमारी चेष्टा हो अपने प्रियतम के लिए ही हो । ये भागवतिक-मार्ग क्रिया प्रधान नहीं है, भाव यानी उद्देश्य प्रधान है ।

प्र०-महाराज जी, यदि कुसंग समीप में है तो उससे हमारी भक्ति की गति अवरुद्ध हो सकती है क्या ?

समाधान - भगवान् श्रीरामने विभीषणजी से कहा था -

बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥

(श्रीरामचरितमानस ५/४६)

नरक मिल जाना अच्छा है लेकिन भगवद्विमुखों का संग अच्छा नहीं । जो दुष्ट प्रवृत्ति के लोग हैं, गन्दे आचरण करने वाले हैं, हमें कभी भी उनका संग नहीं करना चाहिए, अगर संग करेंगे तो -

काजर की कोठरी में कैसोहू सयानो जाय,
काजर की एक लीक लागि है पै लागि है ।

जैसे सुसंग (सत्संग) का रंग चढ़ता है, ऐसे ही कुसंग का भी रंग चढ़ता है । सुसंग का रंग तो धीरे-धीरे चढ़ता है लेकिन कुसंग का बहुत शीघ्र चढ़ता है; जबकि सुसंग प्रबल है, कुसंग में प्रबलता नहीं है पर जल्दी कुसंग का रंग इसलिए चढ़ता है क्योंकि बहुत काल से अर्थात् जब से सृष्टि रची गई तब से हम कुसंग में ही रहे हैं, हमें सत्संग नहीं मिला; अगर सत्संग मिला होता तो – **'सतसंगति संसृति कर अंता ।'** अब तक हम संसृति चक्र से मुक्त हो गये होते, लेकिन अभी भी जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए हैं तो इसका मतलब हमें सत्संग नहीं मिला, हमें कुसंग ही मिलता रहा । अतः कुसंग का हमारा पुरातन अभ्यास है, जैसे ही कुसंग मिलता है तत्काल हमारा मन उसमें राजी हो जाता है और जब सत्संग मिलता है तो बड़े सोच-विचार और मुश्किल से सत्संग की तरफ मन बढ़ता है । इसलिए हमें चाहिए कि हर स्थिति में हम कुसंग से बचें, यदि हम कुसंग करेंगे तो निश्चित भगवन्मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते हैं । ***कुसंग से बड़ा हानिकारक और कोई जहर नहीं है*** । एक बार जहर खा लो तो वह एक ही शरीर नष्ट करेगा लेकिन कुसंग ऐसे संस्कार डाल देगा जो कई जन्मों तक चलते रहेंगे । अतः कुसंग का त्याग अत्यावश्यक है । यदि कुसंग को हम नहीं त्याग पा रहे तो बात नहीं बनेगी । जैसे काला सर्प धोखे से हमारी गोद में आकर के गिर जाए तो हम बिना कुछ सोचे-समझे एकदम डरकर के उसे दूर फेंक देंगे, इससे ज्यादा खतरनाक विषयी (भगवद्विमुख) जन हैं, इसलिए बिना कुछ सोच-विचार किये उनका संग त्याग देना चाहिए । अब काले सर्प को दुलार करोगे तो वो तो काट लेगा ही । विषयी पुरुषों का संग करोगे तो बुद्धि भ्रष्ट होगी ही, बड़ों-बड़ों की हो जाती है -

को न कुसंगति पाइ नसाई । रहइ न नीच मतें चतुराई ॥

(श्रीरामचरितमानस २/२४)

जो नीच पुरुषों का संग करेगा, उसकी बुद्धि निश्चित मलिन हो जायेगी । कुछ आंतरिक वृत्तियाँ भी हैं वे भी कुसंग देती हैं तो पहले हम बाहरी कुसंग से बचें फिर आंतरिक वृत्तियों से संघर्ष करें, कुमति द्वारा आसुरी प्रवृत्तियों का जो प्रादुर्भाव होता है, उनसे हम अपने-आप को बचायें; तभी हम आगे इस मार्ग में बढ़ सकते हैं । यदि हम इतना नहीं कर सकते हैं तो फिर हम साधक या उपासक किस बात के हैं ।

प्र०-महाराजश्री, बड़े-बड़े महापुरुषों के हृदय में जो प्रेम था, वह हमारे हृदय में नहीं है फिर हम कैसे प्रभु से प्यार करें ?

समाधान - प्रेम सबके हृदय में बराबर है लेकिन हमारा वह प्रेम फैल गया है - स्त्री में, पुत्र में, शरीर में, भोगों में; वही प्रेम समेटकर प्रभु के चरणों में लगा दो बस बन गया काम ।

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ।
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

(श्रीरामचरितमानस ५/४८)

इसलिए ऐसा मत सोचो कि हमारे हृदय में प्रेम नहीं है, कोई ऐसा नहीं है जिसके हृदय में प्रेम न हो पर वो प्रेम बँटा हुआ है शरीर-संसार में, वह विनाशी भोगों में लगा हुआ है ।

प्र०-महाराजजी, प्रेम का स्वरूप क्या है, संसारी-प्रेम और दिव्य-प्रेम में क्या अन्तर है ?

समाधान - विशुद्ध दिव्य-प्रेम का स्वरूप उज्जवलता, निर्मलता, सरसता, स्निग्धता एवं मृदुता की सीमाओं के मिलने से बनता है ।

यह नित्य नूतन, एक रस एवं नित्य नई रुचि उत्पन्न करने वाला होता है । वास्तव में अद्भुत और सरस प्रेम वह है जिसके उदय होने के साथ मन को सम्पूर्ण एकाग्रता प्राप्त हो जाती है । जिसके दुःख (वियोगजन्य दुःख) की समानता संसार का कोई सुख नहीं कर सकता फिर उसके सुख की गति का वर्णन कौन कर सकता है ?

ब्रह्मादिक के भोग सुख विष सम लागत ताहि ।
नारायन ब्रज-चन्द्र की लगन लगी है जाहि ॥
नारायन हरि लगन में यह पाँचों न सुहात ।
बिषय भोग निद्रा हँसी जगत प्रीति बहु बात ॥
नहीं खान-पान तेहि भावै है, नहीं कोमल वसन सुहावै है ।
सब विषय लगै तेहि खारा है, हरि आशिक का मग न्यारा है ॥

रसिक संतों ने प्रेम के विशुद्ध रूप को प्रकाशित करने वाली उसकी मुख्य वृत्ति को बताया है, वह है - तत्सुख-सुखित्व भाव । प्रियतम के सुख में सुखानुभव करना शुद्ध-प्रेम का सहज स्वभाव है। प्रेम में जहाँ तक अपने सुख की कामना है, वहाँ तक वह काम-वासना से अधिक ऊँचा नहीं उठता । अपने सुख की मृग-मरीचिका नष्ट हो जाने पर ही दिव्य-प्रेम की प्राप्ति होती है ।

श्रीहित चतुरासी जी की पहली दो पंक्तियों से श्रीप्रियाजू इस तत्सुख प्रेम की पराकाष्ठा को दर्शा रहीं हैं -

जोई जोई प्यारौ करै, सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई, सोई सोई करैं प्यारे । (हितचतुरासी १)

इसके विपरीत जो संसारी-प्रेमी होता है वह प्रेमास्पद से अपने सुख के लिए प्रेम करता है अतः वह स्वार्थी होता है, कामी होता है, भोगी होता है, उसे प्रेम थोड़े ही कहते हैं । प्रेम तो विशुद्ध

होता है, सुख देने की भावना प्रेम में होती है सुख लेने की नहीं; और ये प्रेम सिर्फ सच्चिदानन्द प्रभु से होता है ।

नाशवान देह को लेकर के, नाशवान रूपों को लेकर के जो प्रेम होता है उसमें मोह होता है, आसक्ति होती है, राग होता है, काम होता है ।

अभी सच पूछो तो हम अपने शरीर और परिवारवालों से प्रेम करते हैं प्रभु से नहीं; जिस दिन प्रभु से वास्तविक हृदय से प्रेम हो जायेगा, फिर भजन-साधन करना थोड़े ही पड़ता है बल्कि स्वाभाविक होने लगता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रभु से वरदान माँगा -

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/१३०)

हे मेरे राम ! आप हमें ऐसे प्यारे लगो जैसे कामी पुरुष कामिनी से प्यार करता है, वह कभी कामिनी के ध्यान का प्रयत्न थोड़े ही करता है लेकिन बिना ध्यान किये उसके हृदय में हर समय कामिनी वसी रहती है; इसी तरह लोभी पुरुष धन के चिंतन का प्रयत्न थोड़े ही करता है, स्वाभाविक उसे धन का चिंतन होता है, ऐसे ही हे मेरे राम ! हे मेरे प्रियतम ! हे मेरे प्रभो ! मैं आपकी यादमें मतवाला रहूँ, आपके सिवाय कुछ भी मुझे अच्छा न लगे ।

प्रश्न - महाराज जी, मेरे अन्दर बहुत से विकार हैं तो मुझे भय लगता है कि क्या मुझे भी प्रभु की शरण में आने का अवसर मिलेगा ।

समाधन - अगर नीरोग होकर के अस्पताल जाने की कोई सोचे तो फिर उसे अस्पताल जाने की आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी । यदि

अस्पताल के बाहर लिख दिया जाए कि जिसको 'खाँसी, जुखाम या बुखार न हो' वह आये हमारे यहाँ; तो बोलो वह फिर अस्पताल किस बात का, अस्पताल तो होता ही है बीमारियों को दूर करने के लिए। हम धोबी के पास कपड़ा धुलने के लिए तभी देते हैं जब कपड़ा गंदा होता है, अगर गंदा नहीं है तो देने की जरूरत ही नहीं है। इसी तरह हम जन्म-जन्मान्तर से गंदे हैं, हरि और गुरु के चरणों में हम समर्पित ही इसीलिये होते हैं कि आप धोओ। बच्चे को फिकर नहीं होती है कि हम मल लगाए हुए हैं, ये तो माँ की चिंता का विषय होता है। बच्चा तो मल से लिपटा होने पर भी दौड़कर माँ की गोद में चढ़ता है, माँ को भी उसका मल नहीं दिखाई पड़ता, माँ को तो सिर्फ बच्चा ही दिखाई पड़ता है; ऐसे ही प्रभु भी देखते है कि ये जैसा भी है लेकिन मेरे शरणागत है तो -

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/३०)

इसलिए हमें कुछ सोच-विचार करने की जरूरत नहीं है, मैं जैसा हूँ प्रभु का हूँ, ऐसा मानकर आगे बढ़ जाना चाहिए।

जो हम भले बुरे सो तेरे।
सब तजि तब सरनागत आयौ, दृढ़ गहि चरन गहेरे॥

प्र०-मैं गृहस्थी हूँ और गृहस्थ में पारिवारिक बहुत-सी जिम्मेदारियाँ होती हैं, भक्ति करते हुए मैं उनका किस प्रकार से निर्वहन करूँ?

समाधान - सर्वप्रथम तो यह स्वीकार करो कि मैं गृहस्थी नहीं अपितु मैं प्रभु का हूँ, फिर दूसरी बात अपने को घर का मालिक मत मानो, घर के स्वामी प्रभु हैं और हम उनके नौकर हैं -

[illegible] ।

[illegible] ॥

([illegible])

नाथ सकल संपदा तुम्हारी । मैं सेवकु समेत सुत नारी ॥

(श्रीरामचरितमानस १/[illegible])

हम जो भी कार्य करें वे प्रभु की प्रसन्नता के लिए, प्रभु के जनों का पालन-पोषण करने के लिए कार्य करें । जब ऐसी धारणा बन जायेगी तो गृहस्थ के काम-काज सब भक्ति बन जायेंगे ।

इसलिए अपने को प्रभु का दास मानते हुए, घर प्रभु का है, परिवारीजन प्रभु के हैं और मैं उनके घर-परिवार की सेवा करने वाला एक तुच्छ सेवक हूँ । इस तरह से चलने पर गृहस्थी की जिम्मेदारियों का निर्वहन (माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि का पालन-पोषण) भी भक्ति बन जाएगा ।

प्र०- महाराज जी, मुझे क्रोध बहुत आता है, उससे हम कैसे बचें ?

समाधान - क्रोध तब आता है जब हमारे प्रतिकूल कोई आचरण होता है, **'कामात् क्रोधोऽभिजायते'** (गी.२/६२) कामना में विघ्न पड़ने पर क्रोध आता है, क्रोध की स्वयं सत्ता नहीं है, वह काम से प्रकट होता है । क्रोध करने से स्वयं का ही नुकसान होता है, क्रोध तभी आता है जब हमें दूसरा नजर आता है । यदि हम सबको भगवद्भाव से देखने लगें तो जड़मूल से क्रोध नष्ट हो जाएगा -

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/११२)

यदि जड़मूल से बिल्कुल क्रोध को मिटाना है तो पत्नी, पुत्र, सेवक सभी में भगवद्भावना करने का अभ्यास करो; यद्यपि आवश्यकतानुसार उचित डाँट-फटकार भी लगादो लेकिन अन्दर से

क्रोध नहीं करो । डाटते समय हमारे अन्दर जलन पैदा न हो । अन्दर से हमारा ह्रदय बिल्कुल शीतल बना रहना चाहिए । केवल उनके सुधार के लिए ऊपर से क्रोध का अभिनय मात्र करना है । गुस्सा करना ठीक नहीं है; क्रोध से पतन और नाश के अलावा आज तक कुछ नहीं हुआ । भगवान् ने गीताजी में काम, क्रोध और लोभ को साक्षात् नरक का द्वार बताया है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ (१६/२१)

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ (२/६३)

'क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, सम्मोह से स्मृति में भ्रम पैदा हो जाता है, फिर उससे बुद्धि यानी ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश होना ही सबसे बड़ा पतन है ।'

इसलिए उचित तो यह है कि अगर किसी को समझाना भी है (उन्हें ठीक से भगवत-मार्ग में चलाने हेतु) तो प्यार से समझा दो लेकिन क्रोध नहीं करो, उससे बहुत दिनों का भजन नष्ट हो जाता है, श्रीमद्भागवत के एकादशवें स्कंध में योगेश्वर द्रुमिल ने कहा है -

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुत जैह्वशैश्या-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥ (११/४/११)

'कुछ विरले लोग भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी-वर्षा-आँधी, रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वेग को, जो अपार समुद्र के समान है, उसे भी पार कर लेते हैं किन्तु गाय के खुर से बने गड्ढे के समान

क्रोध के वश में होकर अपनी कठिन तपस्या यानी भजन को खो बैठते हैं ।'

प्र०-महाराज जी, जाने-अनजाने में हमसे जो पूर्व में दुष्कर्म हुए हैं, मुझे बार-बार वही याद आते हैं और उनको याद कर-करके मैं बड़ा दुःखी होता हूँ, अतः इस स्थिति में मैं क्या करूँ ?

समाधान - हमारा प्रत्येक क्षण श्रीप्रियाप्रियतम के चिंतन में जाना चाहिए, जो हो चुका है हमें न उसका चिंतन करके शोक करना है **'गतं न शोचामि'**, और भविष्य में क्या होगा, दुर्गति होगी कि सद्गति होगी, प्रभु मिलेंगे कि नहीं मिलेंगे - न उसकी चिंता करनी है ।

हमें वर्तमान सम्भालना है । हमारा जो वर्तमान है उसका हर क्षण प्रियालाल के चिंतन में बीते, फिर चाहे जब शरीर छूट जाए समझलो आपका काम हो गया । श्रीगीताजी में लिखा है -

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ (८/५)

हम हर क्षण प्रभु का चिंतन करते रहें, पता नहीं कौन-सा क्षण हमारा अंतिम है; यदि प्रभु का चिंतन करते हुए शरीर छूटेगा तो निश्चित भगवत्प्राप्ति होगी । हम भविष्य में भजन कर लेंगे ये आशा नहीं रखनी है, जो समय बीत चुका न उसके विषय में सोचना है । बस, वर्तमान का एक क्षण भी हमारा चिंतन से रहित न जाय; तो समझ लो आज ही हम मुक्त हो गए । श्रीमद्भागवत में कपिल भगवान् ने भी कहा -

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥ (३/२५/१५)

'मन का सतत् भगवच्चिन्तन करना यही मोक्ष का स्वरुप है और शरीर-संसार का चिंतन करना यही बंधन का स्वरुप है ।'

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

'मनुष्यों का मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है ।'

प्र०-महाराज जी, आप कहते हैं सबमें भगवान् के दर्शन करो पर व्यवहार में कुछ ऐसे भी लोग मिलते हैं कि जिनके प्रति भगवद्भाव बन ही नहीं पाता है, अतः हम क्या करें ?

समाधान - अनुकूलता में तो सबको भगवद्-बुद्धि करने में सहजता होती है लेकिन प्रतिकूलता में भगवद्-बुद्धि हो जाना इसी बात की साधना करनी है । अगर हम प्रतिकूलता में भगवद्भाव कर गए तो पास हो जायेंगे । जब कोई हमसे मधुर व्यवहार करता है तो उसमें भगवान् को देखना सहज है लेकिन जब आकर हमें कोई गाली दे, धक्का मारे तो वहाँ भगवद्भाव करना कठिन होता है, यहीं तो परीक्षा होती है उपासक की, इसीलिये हमें प्रत्येक स्थिति में भगवद्भाव करना ही है -

ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां सम्भाष्यदृश्याश्च ये ।
सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि २६४)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (गीता ५/१८)

'ज्ञानीजन विद्या और विनम्रता से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय-हाथी-कुत्ता-चाण्डाल आदि में समदर्शी होते हैं अर्थात् सर्वत्र तत्त्व रूप से प्रभु को ही देखते हैं ।'

पर एक बात की सावधानी रखनी है कि उपासक को व्यवहार सबसे नहीं करना है । 'समदर्शन' करना है लेकिन समवर्तन नहीं करना है । हम गाय-कुत्ता-चांडाल-ब्राह्मण सभी में भगवद्भाव रखें लेकिन समवर्तन अर्थात् व्यवहार एक समान नहीं करें । यदि व्यवहार सबके साथ समान करोगे तो पतन हो जाएगा क्योंकि कोई सिद्ध पुरुष तो अभी हो नहीं । इसलिए भगवान् ने 'समदर्शिनः' कहा है 'समवर्तिनः' नहीं ।

सबके साथ समान व्यवहार हो भी नहीं सकता है । जैसे चार स्त्रियाँ हैं - 'माँ-बहन-पत्नी और बेटी', चारों में समान भगवद्भाव हम कर सकते हैं लेकिन चारों से व्यवहार समान नहीं कर सकते, व्यवहार अलग-अलग यथोचित ढंग से ही करना पड़ेगा । इसी तरह शरीर यद्यपि हमारा ही है हमको शरीर के सभी अंग बराबर प्रिय हैं लेकिन जब अधो अंगों का स्पर्श हो जाता है तो हम हाथ धुलते हैं तो व्यवहार एक जैसा नहीं हो सकता है इसलिए व्यवहार में विषमता होती है अभी कोई दुष्ट आकर के भगवान्, गुरु या भक्तों की निंदा करे तो भगवद्भाव तो हम उसमें भी रखेंगे लेकिन व्यवहार उसके साथ वैसा ही करेंगे । अतः व्यवहार में समदर्शिता नहीं होती है। व्यवहार में भेद होना आवश्यक है, शास्त्राज्ञानुसार ही व्यवहार हो लेकिन तात्त्विक दर्शन अभेद हो । कहीं भी शरीर में अगर चोट लगती है तो हम समान रूप से उसका इलाज कराते हैं, वहाँ भेद नहीं करते हैं । भगवान् स्वयं भी व्यवहार में भेद करते हैं -

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (गी. ९/२९)

'मैं सब प्राणियों में समभाव से व्यापक हूँ, न ही मेरा कोई अप्रिय है और न ही प्रिय है, किन्तु जो भक्त मुझे प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

प्र०-महाराजजी, मेरा मन भजन में नहीं लगता है, जब भी भजन करने बैठती हूँ मन बार-बार संसार में ही जाता है तो मैं क्या करूँ ?

समाधान - मन तो भजन में किसी का भी स्वतः नहीं लगता, अगर भजन में मन लग जाए तो सभी सिद्ध पुरुष न हो जाएँ; मन लगाने से लगता है । आप बार-बार उसे संसार से हटाकर भजन में लगाईये जरूर एक दिन सहज रूप से लगने लगेगा । श्रीगीताजी में भगवान् ने कहा है - **यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।**

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ (६/२६)

'जहाँ-जहाँ जिस-जिस विषय में यह अस्थिर और चंचल मन जाये, उस-उस विषय से रोककर यानी हटाकर इसे अन्तर्मुख करो अर्थात् मेरे (प्रभु के) चिंतन में लगाओ ।'

यदि सतत् अभ्यास के द्वारा भजन में मन नहीं लगता होता तो फिर अपने लोग इस मार्ग के पथिक न बनते । सबका मन प्रारम्भ में संसार में ही भागता है क्योंकि अनादिकाल का अभ्यास है। जैसे जल को कहीं से भी छोड़ो वह नीचे की ओर ही बहता है, लेकिन अगर हमें उसे ऊपर चढ़ाना है तो किसी यंत्र का सहारा लेना पड़ता है, ऐसे ही मन को कहीं भी छोड़ो विषयों में ही जाएगा, उसको विषयों से ऊपर उठाने के लिए मन्त्र की आवश्यकता होती है। यही प्रश्न भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन ने पूछा था कि हे प्रभो ! मन तो बड़ा चंचल है, इस (चंचल चित्त) को वश में करने का उपाय क्या है ?

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (६/३४)

तब भगवान् बोले - हे अर्जुन ! सतत् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस चलायमान दुर्निग्रह मन को वश में किया जा सकता है -

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (६/३५)

सतत् अभ्यास से सब कुछ संभव है । यदि अभ्यास के द्वारा भगवान् में मन लगता न होता तो प्रभु ऐसा क्यों कहते कि मेरे में मन लगाओ, मेरे में बुद्धि को लगाओ – **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।'** (गी. १२/८) अभ्यास के द्वारा निश्चित मन लगता है, तभी तो ऐसा प्रभु कह रहे हैं ।

प्र०-मैं अपने हिसाब से भजन-साधन करता हूँ, क्या यह ठीक है?

समाधान - अपने हिसाब से चलने पर जीव का पतन सुनिश्चित है; जब हम शास्त्र-सद्गुरु या आचार्य के हिसाब से अर्थात् उनके द्वारा बताई हुयी उपासना पद्धति के अनुसार चलते हैं तभी ठीक ढंग से चल पाते हैं क्योंकि मार्ग में आने वाली बाधाओं से उनकी कृपा रूपी कवच हमारी रक्षा करता है । जब हम मनमुखी होकर चलते हैं तो हमारा हिसाब तो ये है कि दो मिनिट में वैराग्य और दो मिनिट में राग यानी विषयों का चिंतन । एक क्षण तो दिखाई पड़ता है कि बात बन गयी लेकिन दूसरे ही क्षण ये मन इतनी गंदी जगह लाकर के खड़ा कर देता है, जो किसी को बताया भी नहीं जा सकता । हम सबके मन की जो दशा है वह बड़ी विचित्र है । मन थोड़ी देर तो प्रभु के प्रेम में रुला देगा - हा नाथ ! और अगले ही क्षण उसी मन में गंदे-गंदे विचार आने लगते हैं । ये मन अंकुश में रहता है तो

केवल गुरु-कृपा से । अतः शास्त्र और सद्गुरु की आज्ञानुसार ही चलो, मनमुखी होकर नहीं ।

प्र०-महाराजजी ! शास्त्रों में एकादशी-व्रत की बड़ी महिमा वर्णित है, अन्य समस्त वैष्णव सम्प्रदाय भी उसे स्वीकार करते हैं किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में एकादशी-व्रत क्यों नहीं किया जाता है?

समाधान - हमारे यहाँ श्रीराधा-दास्य प्रधान निकुँज (सहचरी-भाव) की उपासना है । श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं -

नित्य किशोर उपासना, जुगल मन्त्र को जाप ।
जुगल मन्त्र को जाप, वेद रसिकन की बानी ।
श्रीवृन्दावन धाम, इष्ट श्यामा महारानी ॥

हम कोई भक्त, संत या वैष्णव नहीं हैं । संत और भक्तों पर वैष्णव-शास्त्रों का पूर्ण शासन होता है । श्रीजी की दासी होने के कारण हमारे ऊपर शासन वृन्दावनेश्वरी श्रीस्वामिनी जू का एवं सहचरीभावापन्न रसिकाचार्यों की वाणियों का है **'वेद रसिकन की बानी'**, न कि किसी वेद-शास्त्र का ।

हम श्रीस्वामिनीजू की दासी हैं और आठों प्रहर उनकी सेवकाई में रहते हैं, उनको प्रतिपल लाड़ लड़ाते हैं, श्रीस्वामिनी जू को भोग लगाते हैं, अब लाड़िलीजू जो भोग पाती हैं, हम उनका उच्छिष्ट ही तो पायेंगे । श्रीहितध्रुवदासजी महाराज कहते हैं -

श्रीराधावल्लभ लाल कौं, रुचि सौं जेंवाबहु नित्त ।
सो जूँठन लै पाइयै, और न आनहु चित्त ॥
सुनि 'ध्रुव' धर्मी आन सौं, कबहुँ न कीजै वाद ।
सब ते दिनहि निशंक है, लीजै महा प्रसाद ॥

(श्रीबयालीसलीला)

श्रीप्यारीजू के एक कण सीथ प्रसादी पाने में कोटि-कोटि एकादशी-व्रत का फल प्राप्त हो जाता है । श्रीराधावल्लभलाल का भोग लगा और उसमें अगर हमने कह दिया कि आज हमारा एकादशी-व्रत है और ये अन्न है, हम इसे नहीं पायेंगे, (ऐसा कहकर) हमने उस महाप्रसाद का तिरस्कार कर दिया तो वृन्दावन के रसिकों ने लिखा है -

करै व्रत एकादशी महाप्रसाद ते दूर ।
जमपुर बाँधे जायेंगे मुख में परिहै धूर ॥

श्रीवृन्दावनरस के रसिकों के लिए श्रीश्यामा-श्याम का भजन ही सारतत्त्व है । श्रीजी के महाप्रसाद के आगे करोड़ों-करोड़ों एकादशी-व्रत भी व्यर्थ हैं । श्रीविशाखासखी के अवतार श्रीहरिरामव्यासजी कह रहे हैं -

कोटि-कोटि एकादशी महाप्रसाद को अंश ।
व्यासहि यह परतीत है, जिनके गुरु श्रीहरिवंश ॥

वैसे भी एकादशी की उत्पत्ति कैसे हुई ? पद्मपुराणानुसार सत्ययुग में एक मुर नामक दैत्य हुआ है, उसको मारने के लिए भगवान् की शक्ति (तेज के अंश) से एक कन्या प्रकट हुई, जिसका नाम एकादशी हुआ । भगवान् विष्णु ने उसे आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे द्वारा ये लोकमंगल कृत्य सम्पन्न हुआ, अगर कोई तुम्हारी उपासना करेगा, तुम्हारा व्रत करेगा तो वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष और हमारे चरणों की भक्ति प्राप्त करेगा ।

अब देखिये, पुरुषार्थचतुष्टय और श्रीहरि के चरणों की भक्ति की प्राप्ति से एकादशी उपासना की सिद्धावस्था मानी जाती है और यहाँ इस रसोपासना में, श्रीहिताचार्यचरण कहते हैं -

धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथावार्तया
सैकान्तेश्वरभक्तियोगपदवी त्वारोपिता मूर्धनि ।
यो वृन्दावनसीम्नि कश्चन घनाश्चर्या किशोरीमणिः
तत्कैङ्कर्यरसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते ॥

(श्रीराधासुधानिधि-७७)

'अरे! ये पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष), किसी के लिए आदरणीय होंगे तो बने रहें, हमारे लिए तो इनकी वार्ता व्यर्थ है; इसी तरह श्रीहरि का वह अनन्यभक्तियोग, उसको भी हम दूर से ही नमस्कार करते हैं, अर्थात् हमें उसकी भी चाह नहीं है; मुझे तो श्रीकिशोरीजू की दासता के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।'

इसलिए ये हमारी रसमयी उपासना है । यहाँ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष और यहाँ तक कि ईश्वरभक्ति की भी वार्ता बेकार है ।

जहाँ अनन्त महामहिमामय श्रीस्वामिनीजू के चरणारविन्दों की अराधना है, जिन श्रीचरणों को अखिललोकचूड़ामणि स्वयं श्रीलालजू अपने हृदय पर धारण करते हैं, हम उनकी दासी हैं, अब हमें एकादशी की आराधना करने की जरूरत नहीं है । श्रीभक्तमालजी के रचयिता श्रीनाभाजी ने भी श्रीहरिवंशमहाप्रभु जी के चरित्र में भक्तमाल जी में लिखा है -

सर्वसु महाप्रसाद प्रसिधि ताके अधिकारी ।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी ॥

'श्रीहितजू महाराज महाप्रसाद को ही सर्वस्व मानते थे और वे उसके अधिकारी थे । वे विधि-निषेध के दास नहीं थे, उन्होंने तो अनन्य उत्कट व्रत धारण किया था ।' इसलिए हमारे यहाँ तो एक ही व्रत है; श्रीसेवकजीमहाराज कहते हैं-

ज्ञान-ध्यान-व्रत-कर्म जिते सब, काहू में नहिं मोहि प्रतीति ।
रसिक अनन्य निशान बजायौ, एक श्याम-श्यामा पद-प्रीति ॥

'ज्ञान, ध्यान, व्रत, धर्म-कर्म आदि जितने भी साधन हैं, मुझे इनमें किसी पर भी विश्वास नहीं है । श्रीहित हरिवंश महाप्रभु जी ने जो श्रीश्यामा-श्याम के चरणाश्रय का डंका बजाया है, मैं तो अनन्य भाव से उसी के आश्रित हूँ ।'

अतः हम जो श्रीजी को भोग लगायेंगे, वही पायेंगे । अगर कोई कहे कि एकादशी के दिन श्रीजी को फल का ही भोग लगादो इससे व्रत भी हो जायेगा और महाप्रसाद की निष्ठा में भी बाधा नहीं पड़ेगी । इसका उत्तर ये है कि जब श्रीजी को हम रोज पकवान (रोटी-सब्जी-कड़ी आदि) का भोग लगाते हैं तो आज हम फल का भोग क्यों लगाएँ? क्या श्रीजी को भी कोई व्रत करना अनिवार्य है? और जब हम श्रीजी को अन्न का भोग लगाते हैं तो हम फल क्यों पायें? हम तो जो उनका उच्छिष्ट है, उसी को पायेंगे । इसीलिये हमारे यहाँ किसी भी व्रत की महिमा नहीं है केवल अनन्य व्रत की महिमा है ।

श्री हरिवंश चरन निजु सेवक, विचलै नहीं छाँड़ि रसरीति ।

ये धर्म सर्वश्रेष्ठ महाप्रेमरसस्वरुप है और ये उपासना महाप्रेमरसमयी सर्वोपरि उपासना है । नारदजीमहाराज कहते हैं -

(यो) वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ।

(नारदभक्तिसूत्र-४९)

'जो वेदों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अविच्छिन्न अनुराग को प्राप्त करता है ।'

वेदों का भी त्याग करने पर जिस अनुराग का अनुभव होता है, उस अनुराग का भी सार अनुरागरस वृन्दावन का नित्यविहार है ।

इसी तरह श्रीस्वामीहरिदासजी महाराज की उपसना में देख लीजिये - 'न कोई ग्रह, न कोई नक्षत्र, न कोई व्रत-उपवास' केवल आठों प्रहर श्रीश्यामा-श्याम को लाड़ लड़ाना । इधर ग्रहण पड़ रहा है और उधर पंगत लग रही होती है ।

निसबासर, तिथि-मास-रितु, जे जग के त्यौहार ।
ते सब देखौ भाव में, छाँड़ि जगत ब्यौहार ॥

(श्रीभगवतरसिकजी)

ये वृन्दावन नित्य विहार रस है, ये कोई सनातन-धर्म या वैष्णव-धर्म की उपासना नहीं है । ये महाप्रेमरस की उपासना है । इस प्रेमरस की प्रारम्भिक अवस्था में ही कैसी स्थिति आ जाती है, श्रीसुन्दरदासजी वर्णन कर रहे हैं -

न लाज तीन लोक की, न वेद को कह्यो करै ।
न संक भूत-प्रेत की, न देव जच्छ ते डरै ॥
सुनै न कान और की, दृशै न और इच्छना ।
कहै न मुख और बात, भक्ति प्रेम लच्छना ॥

ये प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वरूप है । यहाँ से वृन्दावन रस की शुरुआत होती है । इसलिए महाप्रेमस्वरुप श्रीजी की सहचरी के भाव में हम केवल स्वामिनी जू की जूठन के अधीन हैं न कि किसी व्रत के। ये हमारा अनन्य व्रत है ।

आप जिस स्थिति पर हैं, जिस सम्प्रदाय से दीक्षित हैं और उस सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति के अनुसार जो कर रहे हैं वह आपके लिए बिल्कुल ठीक है, उसका निषेध नहीं है लेकिन वह

हमारे ऊपर थोपा नहीं जा सकता और न ही हम आपके ऊपर अपनी उपासना-पद्धति थोप सकते हैं । अपनी-अपनी भावना के अनुसार उपासना-पद्धति आचार्य कृपा से हृदय में उतरती है । जो हमारे ऊपर उतरी वह हमारे लिए ठीक है, जो आपके ऊपर आचार्य कृपा से उतरी, वह आपके लिए ठीक है । इसीलिये हमारे बहुत-से शास्त्र हैं और बहुत-से आचार्य स्वरुप भगवान् ने धारण किए, बहुत-सी उपासना पद्धतियाँ बताईं, अब इसमें जो जैसी भावना से युक्त होता है, वह वहाँ जुड़ जाता है ।

जैसे किसी को खस, किसी को केवड़ा या किसी को चन्दन की सुगंध पसंद होती है, इसीलिये विविध प्रकार की सुगंध है, यद्यपि सुगन्ध तो एक ही है लेकिन स्वभाव के अनुसार विविध रूप धारण किये हुए है ।

ऐसे ही भगवान् तो एक ही हैं किन्तु उन्होंने विविध आचार्यों के रूप में, विविध स्वभाव वाले जीवों की विविध स्थितियों का पोषण करने के लिए विविध ग्रंथों-पंथों का निर्माण किया और विविध रूपों से आकर के उसको समझा रहे हैं । इसलिए कहीं किसी का निषेध नहीं है लेकिन एक से दूसरे का खंडन-मंडन नहीं किया जा सकता है । अगर किसी की भी उपासना-पद्धति के प्रति हेय भाव किया गया तो ये अपराध है क्योंकि सभी उपासना पद्धतियाँ भगवत्स्वरुप आचार्यों द्वारा ही बनाई हुई हैं । सभी अपनी-अपनी जगह सही हैं । जो जहाँ जिस पद्धति का आश्रय लिए हुए है, वह तदनुसार चलता रहे पर दूसरे में हेय भाव न करे ।

प्र०-महाराज जी, मैं सोता बहुत हूँ, ये कमी मेरी कैसे दूर हो ?

समाधान - हमें विकलता होनी चाहिए प्रभु से मिलने की, हम चैन

से दस घंटा सो कैसे लेते हैं, हम भरपेट भोजन कैसे कर लेते हैं, हम लोगों से हँसी-मजाक कैसे कर लेते हैं । महापुरुषजन कह रहे हैं -

नारायन हरि भजन में यह पाँचों न सुहात ।
बिषय भोग निद्रा हँसी जगत प्रीति बहु बात ॥

हमें कैसे प्रभु के बिना चैन मिलता है, जैसे एक विरहिणी परदेश गए पति के चिंतन में अहर्निश डूबी रहती है, उसको अपने प्रियतम के बिना हँसना-खेलना, खाना-पीना, सोना कुछ भी अच्छा नहीं लगता; ऐसे ही हमारे अन्दर एक विकलता होनी चाहिए भगवद्दर्शन की । बड़े-बड़े महापुरुषों के चरित्र पढ़कर के देखो उनके हृदय में कैसी विकलता थी -

'दिन नहिं भूख, रैन नहीं निंदिया, यो तन पल पल छीजै ।'

हम ए.सी. रूम में आनंद से सोते हैं, नाना प्रकार की भोग सामाग्रियों को जब जैसा मन कहा भोग लेते हैं और सोचते हैं कि कभी भगवान् तो मिल ही जायेंगे, ऐसे प्रमाद से काम नहीं बनेगा । भगवत्प्राप्ति कोई खेल-तमाशा नहीं है कि हम विकर्म करते रहें, प्रमाद करते रहें और प्रभु हमें मिल जाएँ ऐसा नहीं है । प्रभु से मिलने की विकलता यदि हृदय में जाग्रत करनी है तो हमें 'विषय-भोग, निद्रा, हास-परिहास, जगत से प्रीति और बहुत बातचीत करना' ये पाँच बातें छोड़नी पड़ेंगी, तब विकलता का उदय अन्तःकरण में होगा और भगवत्प्राप्ति का सर्वोच्च साधन है विकल हो जाना । प्रभु के बिना हमें चैन न मिले तो जरूर वो मिल जायेंगे ।

ब्रजगोपियाँ जब श्यामसुन्दर के दर्शन के लिए विकल होकर के रोयीं तो उसी समय कोटि-कोटि कामों को मूर्छित करने वाले श्यामसुन्दर प्रकट हो गए -

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

(श्रीमद्भागवत १०/३२/१,२)

प्र०-महाराज जी, वृन्दावन में मैं वास तो करना चाहता हूँ लेकिन मेरा यहाँ स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है इसीलिये मुझे धाम से बाहर रहना पड़ता है तो क्या ये ठीक है बाहर रहना ?

समाधान - श्रीनारायणस्वामीजी एक दोहे में कहते हैं कि इस भागवतिक मार्ग पर चलना बड़ा कठिन है, इस मार्ग पर कौन चल सकता है, तो कहते हैं -

नारायन अति कठिन है हरि मिलन की बाट ।
यामें पग पीछे धरे, प्रथम शीश दै काट ॥

इस मार्ग पर वही चल सकता है जो अपने आपको मिटा दे क्योंकि -

प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाय ।

शरीर अस्वस्थ हुआ तो हम सोचते हैं कि हम दिल्ली-कलकत्ता आदि किसी महानगर में चले जायेंगे । अरे, हम पूछते हैं कि क्या वहाँ नहीं मरोगे या वहाँ अस्वस्थ नहीं होओगे? अगर यहाँ अस्वस्थ होगे तो श्रीजी की याद आयेगी, यहाँ अस्वस्थ होगे तो संतजन पूछेंगे कैसे हो? यहाँ अस्वस्थ होगे तो सखियाँ पूछेंगी । यहाँ वृन्दावन में वृंदा सखी का राज्य है, वह प्रत्येक जीव का निरीक्षण करती हैं । जैसे कोई भारतवासी है तो चाहे भले ही वह किसी भी गाँव में रहता हो लेकिन भारत सरकार के रजिस्टर में उसकी सारी जानकारी अंकित होती है ।

अब विचार करो, जब एक छोटी सी सत्ता अपनी प्रजा का इतना निरीक्षण करती है तो जो अखिललोकों की सत्ता है क्या वह आपका निरीक्षण नहीं करेगी कि आप वृन्दावन में कैसे हो, आपको क्या आवश्यकता है, कितने कष्ट में हो? क्या हमारी लाड़िली जू जो करुणासिन्धु हैं आपको तड़पते देख सकती हैं, पर हमें भरोसा लाड़िली जू का नहीं है, भरोसा तो हमें संसारियों का है । अगर हमें श्रीजी पर भरोसा है तो हमें प्रतिपल श्रीजी देख रही हैं । हमें अगले क्षण किस चीज की आवश्यकता है ये हमारी श्रीजी जानती हैं और बिना चाहे वह अपने आप दे देती हैं, लेकिन हमें तो भरोसा है पत्नी-पुत्र का, बैंकबैलेंस और डॉक्टरों का, तो हमें अपने कर्मों को भोगना पड़ेगा, और अगर श्रीजी का भरोसा है तो आप निश्चित मानो सब यहीं बिना दवा के ठीक हो जाएगा क्योंकि हमारे प्रभु **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ हैं'** - जिनके संकल्प मात्र से सृष्टि की रचना, पालन और संहार होता है **'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई ।'** ऐसे सर्वसामर्थ्यशाली प्रभु जिन प्यारी जू के प्रेम के अधीन रहते हैं, हम ऐसी लाड़िलीजू के राज्य में रह रहे हैं और हमें तड़पकर कहीं और जाना पड़े कि वृन्दावन का वातावरण हमारे अनुकूल नहीं पड़ रहा है, तो फिर हमें अन्यत्र माया के वायुमंडल में ही प्राण त्यागने पड़ेंगे । इसमें दृढ़ता की आवश्यकता है कि अब जो होना हो सो होवे, मरूँ या जियूँ श्रीजी के धाम को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाउँगा ।

प्र०-महाराज जी, हम जो भी साधन करते हैं वह स्वभाव कैसे बने ?

समाधान - कोई साधक किसी भी साधन का अभ्यास यदि निष्ठापूर्वक बहुत समय तक करे तो वह साधन स्वभाव बन जाता है

यानी फिर साधन हमें करना नहीं पड़ेगा बल्कि स्वतः ही होने लगता है । इसीलिये योगदर्शन में श्रीपतंजलिजी ने एक सूत्र लिखा है -

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः । (१/१४)

साधन का अभ्यास दीर्घकाल तक और नित्य-निरन्तर करना चाहिए तथा सत्कारपूर्वक अर्थात् श्रद्धा और संयमपूर्वक करना चाहिए, इससे वह दृढ़ हो जाता है यानी स्वभाव में उतर जाता है ।

प्र०-ब्रह्मचर्य को कैसे साधें ?

समाधान - जब हमारे हृदय में प्रभु प्राप्ति की तीव्र इच्छा पैदा हो जायेगी तो अपने-आप ब्रह्मचर्य सध जायेगा, लेकिन जब तक लक्ष्य दृढ़ नहीं बना तब तक हमें ये विचार करना है कि हम जिन भोगों को भोगते आ रहे हैं, उनमें सुख है क्या? अर्थात् नहीं है; जब ये भोग दुखद (दुःखदायी) हैं तो क्यों चाहें हम ऐसे झूठे सुख । भोगों के प्रति जब ऐसा हेय भाव तुम्हारा बन जायेगा तो उससे तुम्हें बल मिलेगा लेकिन अब उसमें सावधानी ये रखनी है कि जैसे कहीं से हाथ टूट जाय तो कितना भी उपचार के द्वारा वह जुड़ जाए लेकिन वहाँ से कमजोर हो जाता है ।

ऐसे ही हमने जिन-जिन भोगों को भोगा है, भले ही उनके प्रति हमारी हेय बुद्धि होगी कि उनमें सुख नहीं है लेकिन हमारा मन उस जगह हमें कमजोर कर देता है, तो हमें ऐसे संयोग से बचना चाहिए जहाँ मन हमें गिरादे । अगर उन विषयों का संयोग हुआ तो वे हमारा सारा विवेक हरण कर लेंगे, उसी समय हमारी बुद्धि हमारा साथ छोड़ देगी और हमें भ्रष्ट कर देगी ।

इसलिए साधक को उस संग का, उस वातावरण का त्याग कर देना चाहिए, जहाँ उसके ब्रह्मचर्य में बाधा पहुँच रही हो । दूसरी

बात जो ब्रह्मचर्य धारण करना चाहता है उसे आहार-विहार संतुलित व सात्विक लेना चाहिए और वह कभी ऐसा संग न करे कि जिससे मन विचलित हो जाए । गलत वातावरण या गलत संगति का प्रभाव अवश्य पढ़ता है -

काजर की कोठरी में कैसोहू सयानो जाय,
काजर की एक लीक लागि है पै लागि है ।

अगर गलत संग है और कोई सोचे हम ब्रह्मचर्य से रह लें तो असम्भव; मन से कितने मिनिट लड़ोगे, मन परास्त कर देगा तुम्हें ।

प्र०-हम जूते-चप्पल पहने हुए गुरुमन्त्र का जप कर सकते हैं क्या ?

समाधान - अपवित्र अवस्था में (शौचालय, लघुशंका, पादुका पहने हुए) गुरु प्रदत्त मन्त्र का जप नहीं करना चाहिए अन्यथा अपवित्र अवस्था में मन्त्र जपने से विकार आ जायेंगे अर्थात् मन मलिन होने लगेगा; अतः मन्त्र पवित्र अवस्था में ही जपें और नाम हर समय (पवित्र-अपवित्र) किसी भी अवस्था में जप सकते हैं ।

प्र०-महाराजश्री, मैं बिलकुल अयोग्य हूँ क्या आप मुझे भी शरणागति प्रदान करेंगे ?

समाधान - शरणागति का प्रारम्भ ही यहाँ से होता है, जब तक कोई योग्यता, समझ या ज्ञान होता है तब तक पूर्ण शरणागति नहीं होती है । अर्जुन जब तक अपनी समझ का आश्रय लेते रहे तब तक गीता प्रारंभ नहीं हुई और जब अर्जुन ने कह दिया कि -

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २/७)

'कायरता रूप दोष से उपहत स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहित चित्त वाला मैं आपसे कल्याणकारी साधन के विषय में जानना चाहता हूँ, आप मुझे बताइये क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण में हूँ।' तब भगवान् ने गीता सुनाना प्रारम्भ की ।

जब अपने में अयोग्यता नजर आती है, तभी ये भाव उदय होता है कि मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण में हूँ; यही सच्ची शरणागति है ।

सुने री मैंने निरबल के बलराम ।
अपबल तपबल और बाहुबल चौथो बल है दाम ।
सूर किशोर कृपा ते सब बल हारे को हरिनाम ॥

जब तक कोई भी बल है तब तक शरणागत होने का नाटक हो सकता है, वास्तविक रूप से शरणागति नहीं हो सकती । जब तक साधक में साधकपना है, कर्तृत्वाभिमान है, तब तक मूढ़ता उसका संग नहीं छोड़ती, **'अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।'** 'मैं कुछ कर सकता हूँ', - ऐसे अहंकार से जो युक्त है, वह विमूढात्मा है; और जहाँ ये भाव आया कि मैं किसी योग्य नहीं हूँ, मैं हार गया हे प्रभो ! बस यहीं से शरणागति प्रारम्भ होती है और जहाँ वह शरणागत हुआ तो समस्त दैवी सम्पदा उसके हृदय में प्रकाशित हो जाती है ।

अगर कुछ समझ, ज्ञान या सामर्थ्य है तो पूर्ण समझ, ज्ञान या सामर्थ्य नहीं आने वाली । जब कोई सामर्थ्य नहीं रह जाती तो प्रभु बहुत सामर्थ्य दे देते हैं । जब तक द्रौपदी में सामर्थ्य रही तब तक प्रभु नहीं आये और जब कोई सामर्थ्य नहीं रही दोनों हाथ उठा दिए तो इतनी बड़ी सामर्थ्य प्रकट हो गयी कि १० हजार हाथियों का

भुजाओं में बल रखने वाला दुस्सासन हार गया लेकिन साड़ी नहीं खींच पाया । इसीलिये शरणागति का तो सच्चा अधिकारी ही वही है जो अपने को पूर्ण अयोग्य समझता है ।

प्र०-महाराज जी, परिवार की ओर से निश्चिन्तता कैसे आये, मुझे उनके भरण-पोषण की चिन्ता बनी रहती है ?

समाधान - आप निश्चिन्त रहिये, **'प्रणत कुटुंब पाल रघुराई ।'** प्रभु अपने शरणागतों के परिवार का पोषण भी बहुत अच्छी तरह करते हैं। वो जगद्भर्ता हैं, विश्वम्भर हैं फिर अपने शरणागतों की, उनके परिवार की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं । आप निश्चिन्त रहिये, वह आपके परिवार का भी पालन-पोषण करेंगे और जो भगवद्-शरणागति से भरण-पोषण होगा, वह अपने अहंकार से, अपनी कमाई से, आप नहीं कर सकते हो । प्रभु बहुत कृपालु हैं, बस हम उनके भरोसे हो जाएँ ।

देखो, एक भक्त हुए हैं 'श्रीसोझाजी' । वे गृहस्थी थे, स्त्री और एक नवजात शिशु उनके था । एक बार उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि हम कल विरक्त हो जायेंगे, या तो तुम इस बच्चे के साथ यहाँ रहकर के धर्मपूर्वक आचरण करते हुए भजन करो, या विरक्त होकर हमारे साथ चलो । वे बोलीं - 'स्वामी ! हम तो आपके ही साथ चलेंगे ।' सोझा जी ने कहा लेकिन एक शर्त है - न किसी से ममता-आसक्ति करनी है और न कोई भी वस्तु अपने साथ लेनी है, उन्होंने शर्त मान ली । अगले दिन वे दोनों दम्पती रात्रि के अंतिम प्रहर में घर से चल पड़े । रास्ते में सोझा जी ने देखा कि पत्नी बहुत पीछे-पीछे चल रही तो वे उसके लिए रुके, जब वह समीप आई तो वे देखते हैं कि वह गोद में नवजात शिशु को लिए हुए है । सोझा

जी बोले - हमने कहा था तुम्हें किसी को अपने पास लेकर नहीं चलना है फिर इस बच्चे को क्यों अपने साथ लाई हो? उनकी स्त्री ने कहा कि वहाँ इसका पालन-पोषण कौन करेगा? उसकी बात सुनकर उन्होंने उसे जमीन पर कुछ चींटी-चींटा दिखाए और बोले कि देखो इनका पालन-पोषण कौन करता है, अनंत जीवों का पालन-पोषण प्रभु करते हैं और वही इस बच्चे का भी करेंगे । अगर तुम इस बच्चे का मोह नहीं छोड़ सकती तो लौट जाओ घर; वे रोने लगीं और बोलीं - स्वामी ! मैं आपको नहीं छोड़ सकती हूँ । सोझाजी ने कहा यदि हमारे साथ चलना है तो इस बच्चे को यहीं रास्ते में ही किनारे पर छोड़ दो और चलो हमारे साथ । पति आज्ञा के कारण उन्होंने बच्चे को वहीं रास्ते में ही छोड़ दिया और सोझाजी के साथ चल दीं।

वे दोनों लोग कहीं दूर जंगल में रहने लगे और वहीं भजन करते । भजन करते हुए उन्हें १०-१२ वर्ष बीत गये किन्तु उनकी पत्नी के मन में एक बात रहती थी कि पता नहीं हमारे बच्चे को कौन-सा जीव खा गया होगा, पता नहीं उसकी क्या दशा हुई होगी, परन्तु सोझा जी को विश्वास था कि भगवान् विश्व का भरण-पोषण करने वाले हैं, बच्चे का अहित नहीं हो सकता । पत्नी के मन की पुष्टता के लिए एक दिन सोझा जी ने उनसे कहा कि चलो हम एकबार जन्मभूमि चलते हैं; पत्नी के साथ वे अपने नगर में पहुँचे कोई उनको पहिचान नहीं पाया । वहाँ उन्होंने नगरवासियों से पूछा कि 'क्या आप लोग सोझा जी को जानते हैं ?' लोग बोले - हाँ, जानते हैं । 'क्या उनके यहाँ एक संतान भी थी ?' लोग बोले - हाँ, उनका एक नवजात शिशु था, जब वह अपनी पत्नी के साथ घर छोड़कर गए तो उस शिशु को रास्ते में ही छोड़ गए थे । सोझाजी ने

पूछा तो फिर 'उस बच्चे का क्या हुआ?' लोग बोले - यहाँ का राजा उनमें बड़ी श्रद्धा रखता था, उसने सुना कि वैरागी होकर सोझा जी भजन के लिए चले गए, उसने उनकी खोज कराई किन्तु वे तो नहीं मिले लेकिन रास्ते में पड़ा हुआ उनका बच्चा मिल गया । राजा के कोई संतान नहीं थी अतएव राजा ने उसे गोद ले लिया और अब युवराज पद पर वो लड़का है । सोझा जी ने पत्नी से इशारे में कहा कि समझ गईं, अगर हम जीवन भर कमाते तो भी उसको वो सुख नहीं दे सकते थे जो भगवदाश्रित होने पर उसे प्राप्त हुआ और अब तुम्हारा लड़का युवराज है ।

इसलिए यदि हम भगवदाश्रित हैं तो भगवान् क्या नहीं कर सकते हैं, भगवान् कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ हैं ।

प्र०-महाराज जी ! मेरी वृन्दावन वास करने की दृढ़ इच्छा है, कई वर्षों से वृन्दावन भी आ रहा हूँ लेकिन यहाँ अभी तक वास नहीं हो पाया, मुझे लगता है कि श्रीस्वामिनी जू ने मेरी पुकार नहीं सुनी ?

समाधान - ऐसा हम नहीं मान सकते; इसलिये नहीं मान सकते क्योंकि श्रीकिशोरीजू का बहुत करुणामय स्वभाव है । यदि आपकी अन्यत्र आसक्ति या राग बना हुआ है और फिर आप प्रार्थना कर रहे हैं तो अलग बात है अन्यथा ऐसा हो ही नहीं सकता कि श्रीजी पुकार न सुनें ।

जैसे श्रीरामजी की शरण में विभीषणजी आये और प्रभु को प्रणाम करके अविरल भक्ति की याचना करने लगे तो रामजी ने पहले अविरल भक्ति नहीं दी, पहले समुद्र का जल मँगाकर उनका तिलक किया लंकाधिपति पद का तो विभीषणजी भगवान् की तरफ देखे कि प्रभु मैं तो ये नहीं चाहता, मैं तो आपके चरणारविन्दों की अविरल

भक्ति चाहता हूँ । प्रभु बोले 'नहीं नहीं', ये थी तुम्हारे अन्दर वासना। विभीषण जी ने स्वयं स्वीकार भी किया – **'उर कछु प्रथम वासना रही ।'** (सुन्दरकाण्ड-५९) अतः आपके अन्दर जो अन्य कामना है, उसके हटने पर जब हृदय में सिर्फ एक माँग रह जाएगी कि मुझे वृन्दावन वास मिल जाए तो हम निश्चित कहते हैं स्वामिनी जू जैसा कृपालु कोई है ही नहीं और वृन्दावन वास के लिए कभी ऐसा हो ही नहीं सकता कि स्वामिनी जू अनसुना कर दें । बात होती है हमारी अन्य आसक्ति, अन्य चाह, अन्य माँग की; इसलिए फिर स्वामिनी जू अन्दर की बात देखती हैं । हम बाहर से कह रहे हैं - 'हा राधे ! आपके सिवाय मेरा कोई नहीं' लेकिन अन्दर से जाने कितनों को हम अपना माने बैठे हैं, इसलिए श्रीजी कहती हैं थोड़ा और ये संसार का राग देख ले, फिर जब असलियत में आकर के कहेगा कि आपके सिवाय मेरा कोई नहीं, उसी समय मैं इसे स्वीकार कर लूँगी और धामवास दे दूँगी ।

यदि उनकी अभी कृपा प्राप्त करनी है तो अन्य राग, अन्य आसक्ति का अभी इसी समय से त्याग कर दो । जितने सांसारिक सम्बन्ध हैं ये सब मिथ्या अर्थात् स्वापनिक हैं -

मात-तात-सुत-दार देह में, मति अरुझै मति मंदा ।
हित किशोर कौ ह्वै चकोर तू, लखि 'वृन्दावन चन्दा' ॥

अभी निश्चय करो कि प्रियालाल के सिवाय हमारा कोई नहीं है फिर आप देखो वृन्दावन वास होता है कि नहीं ।

श्रीलाड़िलीजू जैसा दयालु कोई है ही नहीं, दया की समुद्र हैं, कोई ये कहे कि राधा किशोरी हमारी बात नहीं सुनती हैं तो ये बात हमारी समझ में नहीं आती है । श्रीहितध्रुवदास जी कहते हैं -

सहज सुभाव पर्यौ नवल किसोरी जू कौ,
मृदुता दयालुता कृपालुता की रासि हैं ।
नैंकहू न रिस कैहूँ भूलेहूँ न होत सखी,
रहत प्रसन्न सदा हियैं मुख हाँसि हैं ।

श्रीहितजू महाराज भी यही बात श्रीमद् राधासुधानिधि जी में कहते हैं -

वैदग्ध्यसिन्धुरनुराग रसैकसिन्धु-
र्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्र कृपैकसिन्धुः ।
लावण्यसिन्धु रमृतच्छवि रूपसिन्धुः
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः ॥ (१७)

श्रीस्वामिनीजू कृपा, दया, वात्सल्य आदि की अगाध समुद्र हैं। अब अगाध समुद्र का हम कैसे भाव समझ पायेंगे । हमारे वात्सल्य सिन्धु प्रभु श्रीकृष्ण के एक अंश से अनंत माताओं का वात्सल्य है और एक माँ में इतना वात्सल्य होता है कि उसका लड़का उसके थप्पड़ मारे, लेकिन अगर बालक को जरूरत पड़ जाए उसके कलेजे की तो वह अपना कलेजा चीरकर उसी बालक को दे देगी, जिसने थप्पड़ मारा है । श्रीशंकराचार्य जी ने लिखा है -

कुपुत्रो जायेत, क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

'पुत्र कुपुत्र हो सकता है किन्तु माता कभी कुमाता नहीं हो सकती ।'
श्रीकबीरदास जी भी एक पद में कहते हैं -

सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते ।
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता ॥

ये है वात्सल्य का एक छोटा-सा नमूना । ऐसे हमारे श्रीकृष्ण वात्सल्यसिन्धु हैं और ऐसे श्रीलालजू को भी दुलार जहाँ से मिलता है, ऐसी हमारी महावात्सल्यमयी श्रीप्यारीजू हैं । इसलिए वह हमारी

बात सुनती हैं लेकिन जब अन्दर अन्य आसक्तियाँ होती हैं तो फिर श्रीजी इन्तजार करती हैं कि जब पूर्ण तन्मय होकर के ये मेरी ओर देखेगा, तब मैं इसे स्वीकार कर लूँगी ।

प्र०-महाराज जी ! जब हम शास्त्रों को पढ़ते हैं तो उसमें भगवत्तत्त्व, जीव-तत्त्व, माया-तत्त्व, भक्ति-तत्त्व आदि का तो स्पष्ट वर्णन मिलता है, परन्तु जिस राधा-तत्त्व की आप व्याख्या करते हैं, उसका वर्णन स्पष्ट रूप से शास्त्रों में नहीं मिलता, ऐसा क्यों?

समाधान - सबका सार है प्रेम और घनीभूत प्रेम का मूर्तिमान् स्वरूप हैं - 'श्रीलाड़िलीजू; **'सान्द्रानन्दामृतरसघनप्रेममूर्तिः किशोरी ।'**

जैसे राजा का सारा वैभव (राज-काज आदि) शास्त्रों में वर्णित होता है, लेकिन महारानी का वैभव ये प्रकट में वर्णित नहीं होता है क्योंकि वह राजा के हृदय की गुप्त बात है । राजा जिसे पर्सनल मान लेता है उसे ही महल का रहस्य बताता है । ये वृन्दावन निजमहल है और यहाँ की अधीश्वरी श्रीराधा हैं, **'जाके अधीन सदा ही साँवरो या ब्रज को सिरताज'**, श्रीहरिवंशमहाप्रभुजी कह रहे हैं -

जो रस नेति नेति श्रुति भाख्यो । ताको तैं अधरसुधारस चाख्यो ॥

श्रीकिशोरीजू श्रीलाल जू के हृदय का मूर्तिमान आह्लाद, मूर्तिमान प्रेम हैं तो हृदय की बात तो उसी को बताई जाती है जो पर्सनल होता है । इसीलिये आगम-निगम अगोचर बात है किशोरी जू की । आगम-निगमादि ने जिसे नहीं देखा 'नेति-नेति' कहकर जिसे सम्बोधित किया वो परमतत्त्व वृन्दावन के रसिकाचार्यों ने अनुभव किया । श्रीहरिवंशमहाप्रभु जी लिखते हैं –

यद्वृन्दावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतीकं शिरो-
प्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्-ध्यानगम् ॥ (रा.सु.नि ७६)

'जो केवल वृन्दावन में ही गोचर है, जिस तक श्रुति शिरोभाग (वेदान्त) भी पहुँचने में समर्थ नहीं है तथा जो शिव-शुकादि के भी ध्यान में नहीं आता - वो है 'राधा-तत्त्व' ।'

अलक्ष्यं राधाख्यं निखिलनिगमैरप्यतितरां

रसाम्भोधेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते ॥ (रा.सु.नि. ५१)

'जो समस्त आगम-निगम समुदाय से भी अलक्षित है, रससागर के सार उस किसी अनिर्वचनीय श्रीराधानामक सुकुमारतत्त्वकी जय हो ।'

श्रीराधे श्रुतिभिर्बुधैर्भगवताप्यामृग्य सद्वैभवे । (रा.सु.नि. २६९)

'श्रुतियों, बुधजनों तथा भगवान् के द्वारा भी अन्वेषणीय है – श्रीकिशोरीजू का श्रेष्ठ वैभव ।'

अतः यह वृन्दावन का गूढ़ रहस्य है, ये किसी शास्त्र में लिखा नहीं मिलेगा, ये तो केवल सहचरी भावापन्न रसिकाचार्यों की वाणियों से ही उनके शरणागत होने पर जाना जा सकता है, तभी तो श्रीभगवतरसिकजी को कहना पड़ा -

भगवत रसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोऊ समुझि सकै न ।

ज्यादा-से-ज्यादा पुराणों ने इतना ही वर्णन किया कि श्रीकृष्ण 'शक्तिमान' हैं और श्रीराधा एक 'शक्ति' हैं, बस इतना ही शास्त्र समझ पाए, इससे आगे ये नहीं समझ पाए कि वो शक्तिमान श्रीकिशोरीजू के प्रति कैसे आसक्त चित्त हैं और पूर्ण रूप से उनके अधीन हैं । ये तो यहाँ के रसिक जन ही देख पाए -

जै श्रीहित हरिवंश प्रताप रूप-गुन, वय बल श्याम उजागर ।

जाकी भ्रूविलास बस पशुरिव, दिन विथकित रस-सागर ॥

(श्रीहितचतुरासी ५२)

श्रीहिताचार्य कह रहे हैं कि जो श्यामसुन्दर प्रताप, रूप, गुण, वय और बल के लिए प्रसिद्ध हैं, वे रससिन्धु श्रीलालजू श्रीराधा के भृकुटि-विलास के वशीभूत होकर पशु की भाँति लाचार बने रहते हैं। इसी तरह से श्रीस्वामीहरिदासजी महाराज केलिमालजी में कहते हैं -

श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी
चरन लपटाने दुहूँन री ॥ ४९॥
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी
रीझि रीझि पग परनि ॥ ५०॥

ये जो श्यामा-श्याम की एकान्तिक नवनिभृत निकुँज की रसमयी क्रीड़ाएँ हैं, सहचरी भावापन्न महापुरुषजन एकान्त में जिनके चिन्तन में निमग्न रहते हैं - ये लीलाएँ वेदों के द्वारा भी अलक्षित हैं । इसी कारण 'राधा-तत्त्व' का स्पष्ट वर्णन शास्त्रों में नहीं मिलता है ।

प्र०-महाराजश्री ! वैसा भजन नहीं हो पाता है, जैसा होना चाहिए ?

समाधान - ये बात प्रायः साधक के हृदय में बनी रहती है और बनी भी रहनी चाहिए क्योंकि यही बात उसको आगे बढ़ायेगी । अगर भजन में संतोष हो गया तो बहुत बड़ी हानि हो गयी । भजन में कभी संतोष नहीं होना चाहिए । बार-बार मन में आये जैसा भजन होना चाहिए वैसा नहीं होता । अब इसमें यदि वास्तविक हमसे कोई त्रुटि हो रही है, वास्तविक प्रमाद हो रहा है तो उसको सुधार लेना चाहिए और अगर सब कुछ बढ़िया चल रहा है फिर ये वृत्ति है तो ये कृपा है और यही वृत्ति अहं रहित करके प्रभु का साक्षात्कार करवा देगी ।

अब इसमें स्वयं को देखना है कि कहीं कोई प्रमाद, कहीं कोई असत्मार्ग वाली क्रियाएँ तो नहीं हो रहीं हैं, यदि नहीं हो रहीं तो

प्रसन्न रहो फिर तो ये वृत्ति और बढ़नी चाहिए । जब ये वृत्ति और बढ़ेगी तो विरह पैदा हो जाएगा, रोना आ जाएगा कि हाय ! मैं किसी योग्य नहीं हूँ । मैं कितना अधम (नीच) हूँ । अगर कोई त्रुटि होने के कारण ऐसी बात आ रही है तो उसको सुधार लीजिये । आप रात्रि में सोने से पूर्व आत्मनिरीक्षण कीजिये । गुरुमन्त्र को जपते हुए अपनी दिनचर्या को जाँचिये कि आखिरकार मेरे से कोई त्रुटि हुई क्या? अगर आपको लग रहा है कि सब बढ़िया है तो प्रसन्न रहो, जो स्थिति आ रही है वह आपको उठाने के लिए आ रही है ।

प्र०- महाराज श्री ! अभी मैं करीब १० वर्ष से वृन्दावन वास कर रहा हूँ लेकिन अब वह आनंद प्राप्त नहीं होता है जो प्रारम्भ में वृन्दावन को देखकर एक नवीन उत्साह और आनंद की अनुभूति होती थी, इसका क्या कारण है ?

समाधान - वह आनंद कम नहीं हुआ है, जैसे कोई नया व्यक्ति भांग खाए तो उस पर ज्यादा रंग चढ़ता है और जब दो-चार महीने बराबर खाता रहे तो फिर उतने डोज (खुराक) से काम नहीं चलता, भांग का डोज बढ़ाना पड़ता है तब रंग चढ़ता है, अब थोड़ी खुराक से काम नहीं चलेगा । ऐसे ही जब कोई संसार का त्रितापदग्ध थका हुआ जीव नया-नया वृन्दावन आता है तो परम रसमय वृन्दावन के संयोग से उसके मन को परम आनंद की अनुभूति होती है । अब जैसे-जैसे हम यहाँ रहने लगे तो अब हमारी यहाँ खुराक बढ़ गयी । अब जब हमारा वृन्दावन के प्रति चिन्दानंदमय भाव बढ़े तब हमें आनंद की अनुभूति होगी । ये न समझा जाए कि हमारा भाव कम हो गया है, पर अब हमें उतने में तसल्ली होने वाली नहीं है; अब और खुराक बढ़ायी जाए - 'नाम-जप, वाणी-पाठ, सत्संग आदि' ।

वृन्दावन धाम के वास से आपके हृदय में आनंद को हजम करने की ताकत बढ़ गयी । अब थोड़े आनंद से काम नहीं चलेगा और आनंद चाहिए । जैसे नया साधक थोड़े में ही आनन्दित हो जाता है, पर जब वह भजन करता है तो उसके हृदय में जलन बढ़ती है क्योंकि अब उसका काम उतने आनंद में नहीं चलेगा, अब और आनंद की अनुभूति हो । साधक की उत्तरोत्तर हजम करने की ताकत बढ़ती चली जाती है । जब साधक सत्संग के द्वारा ये बात नहीं समझता है तो उसको लगता है कि हमारा भजन घट रहा है, हमारा आनंद कम हो रहा है और वह विकल होकर अपने मार्ग से इधर-उधर भटकने लगता है, इसलिए भटकने की जरूरत नहीं है ।

प्र०-कभी-कभी मन में कोई चिन्ता आती है तो हम अपने मन को समझाते हैं कि जिसने ध्रुव-प्रह्लाद-द्रौपदी-गजेन्द्र आदि की रक्षा की, वह हमारी भी रक्षा करेगा, हमारा भी योग-क्षेम वहन करेगा; पर दूसरे ही क्षण मन में संशय आ जाता है कि वो तो ध्रुव-प्रह्लाद आदि सिद्ध भक्त थे, पर हम जैसे तुच्छ लोगों से प्रभु क्यों प्यार करेंगे, हम जैसों की क्यों रक्षा करेंगे ?

समाधान - जैसे एक पिता के चार लड़के हैं - एक वकील है, एक मास्टर है, एक कलेक्टर है और एक है बिल्कुल अनपढ़-गँवार-मूर्ख; तो जब पिता के प्यार करने की बात आयेगी तो अन्य पुत्रों की अपेक्षा गँवार से ज्यादा प्यार करेगा, क्योंकि उसे पता है कि अन्य पुत्र तो योग्य हैं, वे तो अपने भरण-पोषण की व्यवस्था कहीं न कहीं से कर ही लेंगे, लेकिन ये किसी काम का नहीं है इसके भरण-पोषण का भार तो हमें ही सँभालना है । ऐसे ही हमें तो लगता है कि भगवान् उन सिद्ध भक्तों से भी ज्यादा हम लोगों को प्यार करते हैं

क्योंकि ध्रुव-प्रह्लाद आदि सब योग्य बच्चे हैं और हम लोग हैं पूर्ण अयोग्य; पर हैं तो प्रभु के ही; इसलिए हमें प्रभु के प्यार पर संशय नहीं करना चाहिए, प्रभु का प्यार उनसे ज्यादा हमारे ऊपर है ।

प्र०-महाराज जी, प्रभु हमसे मिलना क्यों नहीं चाहते हैं ?

समाधान - जैसे एक घर में १० बच्चे हैं - एक की पसंद है कि हम खिलौनों से खेलें तो माँ-बाप उसके लिए खिलौना लाकर के दे देते हैं; एक की पसंद है 'हम पढ़ें' तो माता-पिता उसे कॉपी-किताबें लाकर दे देते हैं । इसी तरह जिसको जो प्रसंद है माँ-बाप उसकी इच्छा पूरी कर देते हैं, तो इसमें माता-पिता की गलती नहीं है, इसमें गलती हमारी है । हम खेलना चाहते हैं जिस प्रपंच से तो प्रभु ने उसका विस्तार कर दिया । अभी आप सोच लें कि मुझे नहीं चाहिए खिलौने तो अभी वो आ जायेंगे । उनकी गलती नहीं है, गलती हमारी है । वो तो इतने उदार हैं कि हम चाहते हैं हमें अमुक वस्तु मिले, अमुक भोग मिले तो प्रभु वो दे रहे हैं । अगर हम वो सब लेना बंद कर दें और वैराग्य धारण करके अन्दर से पुकारें हे प्रिया-प्रियतम ! मुझे सिर्फ आप चाहिए । बच्चा जब खिलौनों से खेलना बंद करके रोना आरम्भ करता है तो माँ सब काम छोड़कर आकर के उसे गोद में ले लेती है और उसे दुग्धपान कराती है । बच्चा अगर खेल में मग्न है तो पीछे से छुपके से निकल जाती है कि बच्चा देख न पावे, नहीं तो रोने लगेगा ।

ऐसे ही हमारे प्रभु हैं । आप खेल में मग्न हैं संसार के तो प्रभु कह रहे हैं खेलते रहो, जब रोओगे तब हम उठा लेंगे । इसीलिये हमें प्रभु की प्राप्ति के लिए रोना चाहिए, ये सब कमियाँ हमारी हैं, हम प्रभु से मिलने के लिए व्याकुल नहीं हैं, हम खान-

पान-विश्राम में आनंदित हैं, भोग सामग्रियों में हम राजी हैं और दोष देते हैं कि प्रभु हमसे मिलना नहीं चाहते हैं ।

प्र०-महाराजजी, मैं बड़ा अशान्त रहता हूँ क्योंकि मेरा चित्त बड़ा चंचल है, ये कैसे एकाग्र होकर के श्रीप्रिया-प्रियतम में लगेगा ?

समाधान - हमारी श्रीजी का एक नाम है - **'चंचलचित्त आकर्षिणी'** अर्थात् जो लाल जू के चंचल चित्त को आकर्षित करती हैं, फिर हम लोग तो साधारण से जीव हैं । जो लाल जू 'मदनमोहन, विश्वमनमोहन, मुनिमनमोहन और स्वमनमोहन हैं' - उनके मन को भी मोहने वाली हमारी प्यारी जू मोहिनी हैं ।

मोहनता की राशि किसोरी ।
जे मोहन मोहत सबकौ मन, बँधे बंक चितवन की डोरी ॥

(श्रीबयालीसलीला)

वेणुः करान् निपतितः स्खलितं शिखण्डं
भ्रष्टं च पीतवसनं व्रजराजसूनोः ।
यस्याः कटाक्षशरपातविमूर्च्छितस्य
तां राधिकां परिचरामि कदा रसेन ॥

(श्रीराधासुधानिधि-३८)

श्रीप्यारीजू ने मन्द मुस्कान से, तिरछी चितवन से कटाक्ष कर दिया तो अखिललोकचूड़ामणि मदनमोहन का मुकुट खिसक गया, वंशी गिर गयी, पीताम्बर गिर गया और सरकार बेसुध हो गए । हम सब लोग उन स्वामिनीजू के शरणागत हैं तो हमारा मन कितनी चंचलता करेगा, उसे आकर्षित होना ही पड़ेगा ।

सोचो, समष्टि मन के अधिष्ठातृ स्वयं श्रीलालजू महाराज हैं, उनके मन को आकर्षित करने वाली मनमोहिनी प्यारी जू हैं, यदि हम

उनके गोरे चरणारविन्द का आश्रय ले लें तो मन की चंचलता सदा-सदा के लिए खत्म हो जायेगी, मन पंगु हो जाएगा । अरे, हमारी आपकी बात जाने दो, श्रीलालजू का मन पंगु हो जाता है । श्रीहितसजनीजू कह रही हैं -

देखौ माई अबला कैं बल रासि ।
अति गज मत्त निरंकुश मोहन, निरखि बँधे लट पाशि ॥
अब हीं पंगु भई मन की गति, बिनु उद्दिम अनियास ।
तब की कहा कहौं जब पिय प्रति, चाहत भृकुटि विलास ॥

(श्रीहितचतुरासी ५३)

हमारी प्यारी जू सिंहासन पर विराजमान थीं, श्रीलालजू निकुँज में पधार रहे थे । उसी समय एक लट निकलकर प्यारी जू के कपोल पर आ गयी । अत्यंत मदमत्त गज के समान निरंकुश मनमोहन अर्थात् जो सर्वेश्वर हैं, अखिललोकचूड़ामणि हैं, वे ऐसे प्रभु इनके सुंदर मुख पर लटकी हुई घुँघराले बालों की एक लट के दर्शन मात्र से उसके फंदे में बँध गये ।

श्रीप्रियाजू के दर्शनमात्र से आरम्भ में ही श्रीलालजू के मन की गति बिना किसी उद्यम के ही पंगु हो गई अर्थात् लाल जू प्यारी जू की उस रूप माधुरी को देखकर के शिथिल हो गए ।

हे सखि ! इनकी तो अभी ये हालत हो गयी और हाय! तब क्या होगा, जब प्यारी जू मंद-मंद मुस्कुराते हुए, प्यार भरी दृष्टि से लालजू की ओर देखेंगी ?

अतः ऐसी श्रीकिशोरीजू के श्रीचरणों का आश्रय लेने के बाद मन से कह दो कि जा आज तुझे मुक्त करता हूँ, भाग ले जितना

भाग पाये; अब प्यारी जू अपने कृपा पाश से बाँधकर के सदा-सदा के लिए इस मन को पंगु कर देंगी ।

हे प्यारी जू ! मैं बलहीन हूँ या मुझ अबला की आप ही बल हो । बस इतना हृदय में दीनता पूर्वक आ जाय तो जो वस्तु बड़ी-बड़ी साधनाओं से प्राप्त नहीं होती, वह इससे प्राप्त हो जायेगी -

जय श्रीरूपलाल हित हाथ बिकानी, निधि पाई मनमानी ।
मेरे बल श्रीवृन्दावनरानी ।

चंचल मन को वश में करने का दूसरा उपाय श्रीहितध्रुवदासजी बता रहे हैं -

मन तो चंचल सबनि तें, कीजै कौन उपाइ ।
साधन कौं हरि भजन है, कै सतसंग सहाइ ॥

प्रधान साधना है श्रीप्रिया-प्रियतम का स्मरण और सहायक है सत्संग । यदि संतों के सत्संग को मनन करते हुए सुनें तो उससे बहुत लाभ होगा । निरंतर नाम जपने का अभ्यास और सत्संग ये निश्चित आपके मन को एकाग्र कर देंगे और प्रियालाल के चरणारविन्द में लगा देंगे ।

प्र०-श्रीहितचतुरासीजी का नित्य पाठ करने से क्या लाभ होता है ?

समाधान – यदि कोई २४ घंटे में एक बार श्रीचतुरासीजी का पाठ करेगा तो इस बात की गारंटी है कि निश्चित उसे चौरासी लाख योनियों में नहीं जाना पड़ेगा –

चौरासी श्रीहित हरिवंश कृत, पढ़ै-सुनैं निशि-भोर ।
छुटै चौरासी भ्रमनि तें, निरखै जुगल किशोर ॥
निरखै जुगल किशोर, भोर अरु रैंन न जानैं ।
पियैं रूप-रस-मत्त भयौ, कछु मनहिं न आनैं ॥

प्रेम-लक्षणा-भक्ति, होइ हिय आनँदकारी ।
अरु वृन्दावन-वास, सखी सुख कौ अधिकारी ॥
कुंज महल की टहल-सुख, दंपति संपति पाइहै ।
जैश्रीरूपलाल हित प्रीति सौं, जो चौरासी गाइहै ॥

कितना सस्ता सौदा है चौरासी लाख योनियों के चक्कर से मुक्त होने का । एक घंटे में सम्पूर्ण पाठ हो जाता है । केवल इतना ही फल नहीं है - **'निरखै जुगल किशोर'** युगलकिशोर श्रीश्यामा-श्याम के दर्शन होंगे, प्रेमलक्षणाभक्ति की प्राप्ति होगी, वृन्दावन का वास मिलेगा, सखीसुख का अधिकारी बन जाएगा, और कुञ्ज-भवन की टहल यानि सेवा का सुख मिलेगा तथा दम्पती (श्रीयुगलकिशोर) रूपी सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी । इसके अलावा अतिशीघ्र उसके हृदय से कामवेदना का नाश हो जाएगा । **'काम पावक को पानी'** कामवेदना नाश करने की अचूक औषधी है – प्रियालाल की कामकेलि का गान करना; श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध में वर्णित महारासलीला के गायन का फल भी शुकदेवजी ने यही बताया है –

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ (१०/३३/४०)

'जो धीर पुरुष ब्रजगोपियों के साथ हुयी श्रीकृष्ण की चिन्मय क्रीड़ा का बारम्बार श्रद्धा के साथ श्रवण एवं गान करता है, तो वह श्रीकृष्ण के चरणों में पराभक्ति को प्राप्त करता है और तत्काल उसके हृदय के रोग का नाश हो जाता है अर्थात् काम-वासना सर्वदा के लिए विनष्ट हो जाती है ।'

प्र०-श्रीहितजू के मंगलगान में एक पंक्ति आई है 'ज्ञान-धर्म-व्रत-कर्म, भक्ति-किंकर किये ।' आप इसकी व्याख्या समझा दीजिये ?

समाधान - मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है भगवच्चरणारविन्द का अनन्य प्रेम प्राप्त करना । प्रभु से प्रेम हो जाना 'यही बोध है, यही परम कैवल्यपद है, यही अगाध शान्ति है और यही पूर्ण कृतकृत्यता है ।' ज्ञान, धर्म, व्रत और कर्म इन सबका फल है - प्रभु के चरणों में प्रेम हो जाना ।

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ । जहँ न राम पद पंकज भाऊ ॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू । जहँ नहिं राम प्रेम परधानू ॥

(श्रीरामचरितमानस २/२९१)

'वह सुख, कर्म और धर्म जल जाए जिससे भगवान् के चरणों में प्रेम न हो । जहाँ प्रभु के प्रेम की प्रधानता नहीं है, वह योग कुयोग है और वह ज्ञान अज्ञान है ।'

प्रेम के बिना सब साधन बेकार हैं ।

मथुरा के ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे तो श्रीठाकुरजी उन्हें कृतार्थ करने के लिए उसी दिशा में गोचारण हेतु गए । वहाँ सखाओं को भूख लगी तो ठाकुरजी बोले कि यहाँ हमारे भक्त मथुरा के ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं, उनके पास चले जाओ और उनसे कह देना कृष्ण-बलराम गोचारण हेतु यहाँ आये हैं उनको भूख लगी है कुछ भोजन दे दो । ग्वाल-वालों ने जाकर उन्हें प्रणाम करके सारी बात कह दी लेकिन उन ब्राह्मणों ने उनसे बात भी नहीं की । वे लौटकर आये फिर प्रभु ने कहा - अच्छा, अब उनकी पत्नियों के पास जाना । वे दोबारा गए और ब्राह्मण पत्नियों से जब उन्होंने बताया तो वे सुनते ही बावरी-सी हो गयीं क्योंकि वृन्दावन की मालनियाँ जब मथुरा पुष्प

लेकर जाया करती थीं, वे नित्य ब्राह्मण पत्नियों को श्रीकृष्ण के लीला-चरित्र सुनाती थीं; लीला श्रवण से उनकी श्रीकृष्ण में प्रीति हो गयी थी । अतः जब उन्होंने सुना कि जिनकी 'लीला-माधुरी, रूप-माधुरी' हम सुनती हैं वो प्रभु भूखे हैं तो तुरंत सुन्दर-सुन्दर भोजन के थाल सजाकर चलीं, जब पहुँची तो भगवान् ने जैसे गोपिकाओं के लिए कहा था वैसे ही उनके लिए कहा – **'स्वागतं वो महाभागाः'**, महाभाग्यवानों तुम्हारा स्वागत है, फिर वो जो भोग लायीं थीं ग्वाल-बालों के साथ प्रभु ने उसे पाया तदनन्तर प्रभु उनसे बोले कि अब वापस लौट जाओ । वे बोलीं - 'यदि हम अब वापस गयीं तो हमें हमारे पति लोग स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि हम उनसे अनुमति लेकर नहीं आयी थीं ।' तब भगवान् ने कहा - 'देवता इस बात के साक्षी हैं, जो मेरी शरण में आ जाता है बड़े-बड़े लोकपाल उसकी वंदना करते हैं; अतः तुम जाओ वे आज से तुम्हारा विशेष आदर करेंगे ।' तब वे लौटकर गयीं तो उनके पतियों ने उनका बहुत सम्मान किया और स्वयं को धिक्कारने लगे -

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥

(श्रीमद्भागवत १०/२३/३९)

हाय! हम प्रभु से विमुख हैं । यद्यपि उच्च कुल में हमारा जन्म हुआ, गायत्री ग्रहण करके हम द्विजाति हुए, हमने बड़े-बड़े यज्ञ किये; किन्तु भगवद्विमुख होने के कारण हमें धिक्कार है ! धिक्कार है ! हमारी विद्या, व्रत-पालन, बहुज्ञता, कर्मकाण्ड आदि सब बेकार है क्योंकि समस्त सत्कर्मों के फल साक्षात् प्रभु श्रीकृष्ण ने हमसे भोजन

माँगा और हम यज्ञादि क्रियाओं में ही लगे रहे; लेकिन हम बड़े सौभाग्यशाली भी हैं क्योंकि हमारी पत्नियाँ बड़ी भक्ता हैं ।

अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।
भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥

(श्रीमद्भागवत १०/२३/४९)

इसलिए कर्मकाण्ड, धर्म-व्रत और ज्ञान का फल है - 'प्रेमलक्षणाभक्ति' की प्राप्ति अर्थात् श्रीप्रिया-प्रियतम के चरणों में प्रेम हो जाना । यहाँ मंगल गान में कह रहे हैं कि जिन्होंने प्रेमाभक्ति के आगे इन सबको दास कर दिया । 'ज्ञान-धर्म-व्रत-कर्मादि' ये सब भक्ति के अधीन हैं, जबकि भक्ति स्वतन्त्र है वह ज्ञान-कर्मादि के अधीन नहीं है - **सो सुतंत्र अवलंब न आना ।**
तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ॥ (मानस. ३/१६)

भक्ति स्वामिनी है और ये सब ज्ञान-धर्म-कर्मादि दास हैं । यदि प्रेमलक्षणाभक्ति नहीं आई तो ये सब बेकार हैं । श्रीहरिवंश महाप्रभु जी करुणा करते हैं और वह प्रेम लक्षणा भक्ति प्रदान करते हैं - जो ज्ञान-धर्म-व्रत-कर्म आदि को किंकर बनाये हुए है ।

प्र०-महाराज जी, क्या नित्य सत्संग सुनना अनिवार्य है ?

समाधान - सत्संग ही तो हमारा उत्थान करता है, सत्संग से ही हमारे अन्दर दैवी संपदा आती है, गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है -

मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥

(श्रीरामचरितमानस १/३)

'आज तक संसार में जिस किसी को जो भी कुछ मिला अर्थात् 'सद्गति मिली, सन्मति मिली, निर्मल कीर्ति मिली, वह केवल

सत्संग से ही मिला है । इनकी प्राप्ति का सत्संग के अलावा न लोक में कोई उपाय है और न ही वेद में ।'

इसलिये नित्य-नियम से सत्संग सुनो और उसे आचरण में उतारो । हमारे आचार्यों ने कहा है बिना सत्संग के भजन हो ही नहीं सकता - **'भजन न होई संग बिनु, बिना भजन नहिं प्रेम ॥'**

(श्रीबयालीसलीला)

सत्संग के बिना भक्ति भी नहीं मिल सकती है -

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/४५)

भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥

(श्रीरामचरितमानस ३/१६)

सब कर फल हरि भगति सुहाई । सो बिनु संत न काहूँ पाई ॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा । राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/१२०)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजू ने श्रीमद्भागवत में उद्धवजी से कहा कि सत्संग से मैं अधीन हो जाता हूँ -

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमाः यमाः ।
यथाऽवरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ॥ (११/१२/१,२)

'प्रभु योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा आदि से वश में नहीं होते हैं और न ही व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम-नियम आदि से; प्रभु तो केवल सत्संग से ही वश में होते हैं; क्योंकि सत्संग 'सर्वसंग' अर्थात् समस्त आसक्तियों का त्याग करवाकर प्रभु में अनन्य कर देता है ।

जो बड़ी-बड़ी साधनाओं से धरा (स्थिति) नहीं आती है, वह क्षणभर सत्संग सुनने से ही आ जाती है । कितने ऐसे लोग हैं जिनको बीसों वर्ष साधना करते हो गए लेकिन एक भी विकार या सम्बन्ध त्यागने की उनमें सामर्थ्य नहीं आई, लेकिन बीस दिन ठीक से सत्संग सुन लिया जाए तो सारे संसार को छोड़ने की सामर्थ्य उसमें आ जायेगी; तभी लिखा है -

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥ (मानस. ५/४)

इसलिए नित्य-निरंतर सत्संग सुनते रहना चाहिए । नामजप में भी सत्संग से ही प्रीति होती है, धाम-निष्ठा, रज-निष्ठा भी सत्संग से ही पुष्ट होती है ।

देखो, सनकादिक भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं लेकिन परस्पर (तीन श्रोता एक वक्ता बनकर) निरंतर सत्संग करते रहते हैं और निरंतर 'हरिः शरणं-हरिः शरणं' जपते रहते हैं ।

प्र०-महाराज जी ! भगवत्प्राप्ति में बाधक क्या है ?

समाधान - अन्याश्रय, अन्य का भरोसा और अन्य की आशा; हम प्रभु के चरणकमलों का आश्रय ले लें, भरोसा भी उन्हीं का कर लें और आस भी यदि प्रभु की हो जाय फिर क्या कहना? तीनों बातें हो जाएँ तो बहुत शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो जाए ।

अभी क्या है आश्रय तो हम लोग ले लेते हैं प्रभु के चरणों का, लेकिन विषय होता है 'संसार'; विषय होता है 'भोग-विलास'; विषय होता है 'जागतिक वैभव'; आशा होती है सांसारिक भोग-सामाग्री, पद-प्रतिष्ठा, सुख-सुविधा आदि की; तो प्रभु विवश हो जाते हैं कि मेरे आश्रय से ये इन सब चीजों को चाहता है तो जब

तक हमको इन चीजों से वैराग्य नहीं होता है तब तक ये सब चीजें प्रभु हमें देते रहते हैं, फिर कृपा करके संत-समागम दे देते हैं; उससे हमको जब पूर्ण वैराग्य हो जाता है और एक ही आश्रय, एक ही भरोसा और एक ही आस प्रभु से मिलने की हो जाती है तो प्रभु मिल जाते हैं और हृदय में आनंद की धारा बहने लगती है ।

प्र०-श्रीप्यारीजू की उपासना के लिए क्या-क्या छोड़ना जरूरी है ?

समाधान - इसका उत्तर श्रीहिताचार्यचरण ने श्रीमद् राधासुधानिधि जी में एक श्लोक में दिया है, वे कहते हैं तीन बातों को छोड़ दो -

दूरादपास्य स्वजनान् सुखमर्थकोटिं सर्वेषु साधनवरेषु चिरं निराशः ।
वर्षन्तमेव सहजाद्भुतसौख्यधारां श्रीराधिकाचरणरेणुमहं स्मरामि ॥

पहली बात है - तुम पारिवारिक (रिश्तेदार-नातेदार आदि से प्राप्त) सुखों को त्याग दो । हमारा न कोई परिवार है, न कोई रिश्तेदार । हे प्यारीजू! आप ही हमारी परिवार और रिश्तेदार हो । हमें अन्दर से राग रहित होना है । यदि हम घर-परिवार का त्याग करके अलग निवास कर रहे हैं लेकिन अन्दर से ये बना हुआ है कि हमारे अमुक-अमुक हैं तो उस एकांत वास से कोई फायदा नहीं; भले ही चाहे घर में ही रहो लेकिन ये भाव आ जाए कि हे लाड़िली! आपके सिवाय मेरा कोई नहीं; यही सच्चा वैराग्य है। यदि इस प्रकार की भावना से युक्त हैं तो हम घर में रहकर भी वनवासी ही हैं ।

दूसरी बात है - धन के द्वारा प्राप्त होने वाले करोड़ों प्रकार के सुखों का त्याग कर दो । हमें प्यारी जू के नाम-रूप-लीला आदि का सुख लेना है न कि दाम से प्राप्त होने वाले सुखों को । दाम के द्वारा प्राप्त होने वाले हर सुख को प्रिया जू के चरणों में समर्पित करके प्रसाद रूप से ही स्वीकार करना है ।

तीसरी बात है - श्रेष्ठ-श्रेष्ठ साधनों से प्राप्त होने वाले सुखों (ऋद्धि-सिद्धि आदि) का त्याग कर दो और चिरकाल तक नैराश्य भाव धारण कर लो अर्थात् हमें किसी साधन का बल नहीं होना चाहिए, हम निर्बल हो जाएँ –

सबै अंग गुन हीन हौं, ताको जतन न कोय ।
एक किशोरी कृपा तें जो कछु होय सो होय ॥

(श्रीबयालीसलीला)

मानस जी में श्रीहनुमान जी महाराज प्रभु श्रीरामजी से कह रहे हैं –

ता पर मैं रघुबीर दोहाई । जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ॥ (४/३)

श्रीसूरदासजी ने भी अंतिम समय यही कहा था –

भरोसो, दृढ इन चरणन केरौ ।
साधन और नहीं या जग में, जासों होय निबेरौ ॥

ये तीन बातें हमारी तरफ से हो जाएँ तो श्रीकिशोरीजू के गोरे चरणारविन्दों का आश्रय मिल जाएगा ।

प्र०-महाराजजी, क्या वृन्दावनधाम कृष्णावतारकाल के पूर्व भी था ?

समाधान - वृन्दावन श्रीकृष्णावतारकाल द्वापरान्त के समय ही प्रकट नहीं हुआ अपितु वृन्दावन नित्य है, सनातन है, कालातीत है । श्रीहरिरामव्यास जी ने लिखा है -

फनि पर रवि तर नहिं विराट महँ नहिं संध्या नहीं प्रात ।
माया काल रहित नित नूतन सदा फूल फल पात ॥

महाप्रलय में भी इसका नाश नहीं होता है क्योंकि यह ब्रह्माजी द्वारा रचित सृष्टि में नहीं है, उससे अलग है । शेष जी के फण के ऊपर नहीं है । यह सूर्य-चन्द्र से प्रकाशित नहीं है अपितु तेजोमय है और स्वयंप्रकाशित है; गीताजी में भी भगवान् ने कहा है-

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।' (१५/६)

जब अवतार होता है तो यही चिदानंद स्वरूप धारण कर लेता है । ऐसा नहीं कि ये वृन्दावन द्वापर में प्रकट हुआ, इसके पहले वृन्दावन नहीं था; श्यामा-श्याम की रसमयी लीलाएँ नहीं थीं । प्रियालाल के 'नाम-रूप-लीला और धाम' ये सब अनादि तत्त्व हैं । युगलकिशोर श्रीलाड़िली-लाल अनादिकाल से अनन्तकाल तक नवनिभृत निकुंज श्रीवृन्दावनधाम में अद्भुत रसमयी केलि करते रहते हैं । श्रीध्रुवदासजी ने कहा है - **'न आदि न अन्त विहार करें दोउ'** ये हमारी जोरी अनादि और अनन्त है । अवतार काल के समय इसी सदा सनातन एकरस जोरी निकुँज बिहारी-बिहारिनजू के अंश से नन्दनन्दन और वृषभानुनन्दिनी का प्राकट्य होता है।

जिस वृन्दावन धाम में हम सब बैठे हैं, यह अनादि धाम है । अवतार काल में व्रज-वृन्दावन का जो स्वरूप प्रकट होता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतादि पुराणों एवं गर्गसंहिता में मिलता है, वह इसी नवनिभृत निकुँज वृन्दावनधाम से ही प्रकट होता है । गोलोकधाम का संचालन भी इसी वृन्दावनधाम से होता है । यद्यपि जो महापुरुषजन गोलोकधाम की प्रधानता का भाव रखने वाले हैं वे ऐसा मानते हैं कि गोलोक से वृन्दावन इस भूलोक पर उतरा है –

वेदनागक्रोशभूमिं स्वधाम्नः श्रीहरिःस्वयम् ।
गोवर्धनं च यमुनां प्रेषयामास भूपरि ॥ (गर्गसंहिता)

वह जैसा भी मानें – **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** जो जिस प्रकार का भाव करेंगे वैसे ही अनुभव में आयेगा; पर हमारे रसिकजन मानते हैं कि इसी धामी-धाम से अन्य धाम एवं धामी प्रकाशित हुए हैं । मूल महल यह वृन्दावनधाम है ।

यही है यही है भूलि भरमौ न कोऊ
भूलि भरमें ते भव भटक मरिहौ ॥ (श्रीमहावाणीजी)

इस धाम में जो जोरी रास-विलास परायण है, वह भी निर्गुण और सगुण दोनों से परे है और उसी से निर्गुण-सगुण की सत्ता है -

नहिं निर्गुन, सर्गुन नहीं, नहीं नेरे नहिं दूरि ।
भगवत रसिक अनन्य की, अद्भुत जीवन मूरि ॥

(श्रीभगवतरसिकजी)

श्रीहरिराम व्यासजी भी कहते हैं – **'निर्गुण-सगुण ब्रह्म ते न्यारी'**, यह जोरी निर्गुण और सगुण ब्रह्म दोनों से न्यारी है लेकिन यह बात वृन्दावन की रज और रसिकों की कृपा से ही समझ में आयेगी । जिनको रजरानी का सेवन करने को और रसिकों का संग मिला, उनके लिये यह जोरी बहुत नजदीक है; क्योंकि जहाँ हम सब बैठे हैं, यह जोरी इसी धाम में क्रीड़ा परायण है –

यद्वृन्दावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतीकं शिरो-
प्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्-ध्यानगम् ॥ (रा.सु.नि ७६)

महाप्रेमरस स्वरूप हमारी नवकिशोर-किशोरी युगलजोरी, वह एकमात्र नवनिभृत निकुँज वृन्दावन में ही गोचर है । यह जोरी न तो वेदों के अनुसार साधना करने पर मिल सकती है और न बड़े–बड़े महापुरुषों के ध्यान में आती है । यह तो केवल वृन्दावन रजरानी की कृपा से जो सहचरीभावापन्न रसिकाचार्यों की शरण लिए हुए हैं एवं उनके द्वारा उपदिष्ट उपासना-पद्धति के अनुसार उपासना परायण हैं, तथा अपने मन व प्राण सब कुछ समर्पित किये हुए हैं, उनके हृदय में ये जोरी सहज रूप में प्रकाशित हो जाती है अन्यथा अति दुर्लभ और अति दूर है यह जोरी ।

प्र०-महाराजश्री, श्रीकृष्ण साक्षात्कार कैसे और कब होता है?

समाधान - बिना श्रीकृष्ण बने श्रीकृष्ण का साक्षात्कार नहीं होता है, जब हमारा अन्तःकरणचतुष्टय - 'मन, बुद्धि, चित्त, अहं' सब श्रीकृष्ण बन जाए यानी सम्पूर्ण अन्तःकरण कृष्णमय हो जाए तो जिधर दृष्टि डालो वहीं कृष्ण ही दिखाई पड़ेंगे । पहले अन्तःकरण की वृत्तियों को निरंतर कृष्ण सुमिरन से कृष्णमय बनाओ । जब हमारे रोम-रोम, श्वाँस-श्वाँस से नाम निकलेगा तब नामी अपने आप आ जाएगा । खूब नामजप करते हुए भजन परायण रहो, इसी से प्रभु से प्रेम और प्रेम होने पर उनका साक्षात्कार हो जाएगा । अब इसमें सावधानी ये रखनी है कि हर समय दीनता का भाव बना रहे कि मैं नामजप कर नहीं रहा हूँ, प्रभु कृपा करके करा रहे हैं । मैं तो इतना नीच हूँ कि एक 'राधा-नाम या कृष्ण-नाम' भी नहीं बोल सकता हूँ । श्रीहितहरिवंश महाप्रभु जी ने एक स्थान पर श्रीराधासुधानिधि में कहा है - **क्वाहं तुच्छः परममधमः प्राण्यहो गर्ह्यकर्मा**

यत्तन्नाम स्फुरति महिमा एष वृन्दावनस्य ॥ (२६०)

'कहाँ तो मैं तुच्छ, परम अधम और निंदनीय कर्म करने वाला साधारण प्राणी और कहाँ श्रीप्यारीजू का महामहिमामय नाम; इसलिए मैं जो 'राधा' नाम ले रहा हूँ ये इस वृन्दावन धाम की कृपा है अन्यथा वृन्दावन की कृपा के बिना कोई 'राधा' नाम ले ही नहीं सकता ।' अतः हमसे जो नामजप हो रहा है, वह प्रभु करुणा करके करा रहे हैं, मुझे अपनी तरफ घसीट रहे हैं - ऐसी दीनता से युक्त साधक बहुत जल्दी आगे बढ़ जाता है । अगर ये भाव रहा कि मैं इतना भजन कर रहा हूँ तो लड़खड़ाना पड़ता है, गिरना पड़ता है क्योंकि अहंकार की धुलाई आवश्यक है -

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना । सकल सोक दायक अभिमाना ॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी । सेवक पर ममता अति भूरी ॥

(श्रीरामचरितमानस ७/७४)

प्र०-मोक्ष-सुख यानी ब्रह्मानन्द में और भक्ति-सुख में क्या अंतर है ?

समाधान – मोक्ष-सुख स्वरूपानन्द, अखण्डानन्द है और भक्ति-सुख प्रेमानन्द, अनन्तानन्द है । ज्ञान-मार्ग की चरम परिणति है 'मोक्ष' । मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं अपितु मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ इस भाव को शास्त्र या सद्गुरुदेव की कृपा से सिद्ध कर लेना यही जीवन्मुक्तता है किन्तु इस सुख को भी लघु कर देने वाला भक्ति (प्रेम) सुख है, जिसमें उपासक प्रेमी-जनों के संग से अपने स्वरूप को भावमय देखता है, तत्त्वबोध होने पर भी भेदभाव (सेवक-सेव्यभाव) को स्वीकार करके अनन्त सुख में निमग्न रहता है -

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ (श्रीमद्भा० ३/२९/१३)

लेकिन भागवत-धर्म अर्थात् भक्ति से भी आगे वृन्दावन-रस है और उसका स्वरूप तो ये है कि श्रीप्रिया-प्रियतम के रस में निमग्न रसिकजन ऐसे करोड़ों मोक्ष सुखों को पैर से ठोकर मारते हैं अथवा कैवल्य मोक्ष से उन्हें डर लगता है –

'पाइ पग पेल री', 'बत बिभेमि कैवल्यतः'

सनातन ब्रह्म की प्रतिष्ठा हैं श्रीकृष्ण । कृष्ण-रूप में यदि ब्रह्मानन्द से बढ़कर सुख न होता तो श्रीशुकदेवजी जैसे महापुरुष जो जन्म से ही ब्रह्मबोध से सम्पन्न हैं वे विचलित क्यों होते; जैसे ही उन्होंने व्यासजी के शिष्यों से श्रीकृष्ण की रूप माधुरी का वर्णन सुना

तो उनकी समाधि भंग हो गयी, वापस लौटकर आये और अपने पिता श्रीव्यासदेव से श्रीमद्भागवत जी अध्ययन किया । श्रीशुकदेव जी ने स्वयं परीक्षित जी से कहा है -

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।

गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यत् अधीतवान् ॥ (भा. २/१/९)

'राजर्षे ! मैं परमात्मा के निर्गुण स्वरूप में पूर्ण रूप से परिनिष्ठित था किन्तु प्रभु श्रीकृष्ण की मधुरातिमधुर लीलाओं ने बलात् मेरे चित्त हो अपनी ओर आकर्षित कर लिया ।'

इसी तरह से परम ज्ञानी श्रीजनकजी महाराज विचलित हो गए जब उन्होंने श्रीरामजी के रूप को देखा -

मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥

इन्हहिं विलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥

सहज विराग रूप मन मोरा । थकित होत जिमि चन्द-चकोरा ॥

(श्रीरामचरितमानस १/२१५-१६)

उनका मन ब्रह्मसुख का त्याग करके प्रभु के रूप में आसक्त हो गया । अर्थात् ब्रह्म सुख से श्रेष्ठ है प्रभु की रूप माधुरी । अद्वैत की वीथियों के पथिकों के उपास्य श्रीमधुसूदनसरस्वती जी कहते थे ब्रह्मबोध से बढ़कर कोई सुख नहीं, लेकिन जब ललित त्रिभंगी श्रीलालजू को उन्होंने देखा तो बोले – **'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने'** श्रीकृष्ण से भी बढ़कर कोई परमसुख है ऐसा मैं नहीं जानता ।

प्र०-महाराज जी ऐसा आशीर्वाद दो, जिससे प्रभु की एक झाँकी दिखाई पड़ जाए ?

समाधान - आप निरन्तर प्रभु का नाम रटिए अगर न मिल जाएँ तो कहना । भाईजी श्रीहनुमानप्रसादपोद्दार जी ने कहा है कि मैं अपना

प्रथम और अंतिम अनुभव बताता हूँ, आप नाम रटने का नियम लीजिये पूर्ण करेंगे श्री हरि । नाम को ऐसे पकड़िये श्रीहरि भी सामने हों तो भी नाम न छूटे तो देख लेना हरि और प्रियाजू आपके सामने से जायेंगे नहीं; आप कहोगे भी कि हम नहीं देखना चाहते तो जिधर देखोगे उधर ही खड़े दिखाई पड़ेंगे । अगर नाम का आश्रय नहीं है तो कितनी देर रोक सकते हो उनको; यदि तुम डोरी न पकड़ो तो किसी का आशीर्वाद उस पतंग को कैसे पकड़ा सकता है, डोरी पकड़ लो किसी के आशीर्वाद की जरूरत नहीं पतंग तुम्हारे हाथ में है । नाम है डोरी और प्रभु हैं पतंग, जिधर चाहो उधर उड़ाओ **'पतंगो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः ।'** सतत जिह्वा से नाम चले, जैसा महापुरुषों ने रटा है और पाया है, उसी के अनुसार हम बता रहे हैं ।

वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धान्त अपेल ॥
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे ।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते ॥ (मानस ७/१२२)

प्र०-महाराज जी, हम वृन्दावनवासी हैं पर हमारी गंगा स्नान की इच्छा हो रही है, क्या हम गंगा जी जा सकते हैं ?

समाधान - उपासना में चातक की तरह पूर्ण अनन्यता होनी चाहिए; बने तो हमारी श्रीश्यामा-श्याम से बने अन्यथा हमें और किसी की तरफ नहीं झाँकना है -

बने तो रघुबर ते बने कै बिगरे भरपूर ।
तुलसी बने जो और ते ता बनवे में धूर ॥

श्रीप्रियाजू के चरणारविन्द में क्या नहीं है ? श्रीगंगाजी जब इस भूतल पर आने लगीं तो उन्होंने भगीरथजी से दो बातें कहीं

पहली बात कि जब मैं ऊपर से मृत्युलोक में गिरूँगी तो मुझे रोकने के लिए आधार चाहिए, अन्यथा सीधे पृथ्वी को फोड़कर पाताल चली जाऊँगी । दूसरी बात -

किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् ।

मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥ (श्रीमद्भा० ९/९/५)

'जब मैं पृथ्वी लोक में जाऊँगी तो पापात्मा पुरुष मेरा स्पर्श करेंगे, उससे मैं मलिन हो जाऊँगी तो मुझे पवित्र करने का उपाय क्या है ? अतः हे राजन्! यदि इन दो बातों का समाधान तुम ढूँढ लो तो मैं चलने के लिए तैयार हूँ ।' भागीरथ जी ने महादेव जी को तपस्या करके रिझाया और उनसे प्रार्थना की तो उन्होंने कहा गंगा के वेग को तो हम रोक लेंगे । गंगा जी प्रभु का चरणोदक हैं महादेव जी ने जटा खोलकर उन्हें धारण किया -

जटा-कटाह-संभ्रम-भ्रमन्निलिंपनिर्झरी ।

विलोलवीचिवल्लरी विराजमानमूर्धनि । (शिवताण्डवस्तोत्र २)

फिर भगीरथ जी ने दूसरी बात का समाधान बताया

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।

हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥

(श्रीमद्भागवत ९/९/६)

'हे गंगे मैया ! जो सदैव श्रीहरि को अपने हृदय में धारण किये हुए हैं ऐसे महापुरुष जब तुम्हारा स्पर्श करेंगे तो तुम निष्पाप हो जाओगी ।'

अब जरा सोचो गंगाजी तक को निष्पाप कर देने वाले भगवत्प्रेमी महात्माजन होते हैं । फिर ये वृन्दावन धाम तो श्रीप्रियाजू का निज महल है, यहाँ तो एक से बढ़कर एक रसिक संत इन कुञ्ज

वीथियों में नित्यप्रति विचरण करते रहते हैं । श्रीचाचा वृन्दावनदास जी ने लिखा है -

वृन्दावन सेवहु भाँति भली ।
जहाँ रसिक संतन को दर्शन, चलत फिरत कुंजन की गली ॥

श्रीहरिरामव्यास जी ने भी कहा है -

साधु चरण रज माहिं व्यास से कोटिक पतित समात ।

अब यहाँ आने के बाद तुम्हें गंगा जी जाने की आवश्यकता नहीं है । यहाँ के एक रज कण में पवित्रता प्रदान करने की जितनी सामर्थ्य है उतनी सम्पूर्ण विश्व के तीर्थों में भी नहीं है । अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के तीर्थ एक तरफ और वृन्दावन का एक रज कण एक तरफ । अरे ये प्यारीजू की चरण रज है -

प्रिया चरण रज जानिके लुठत रसिक सिरमौर ।

तीर्थों में जाने से पुण्य होता है और वृन्दावन की रज श्रीकृष्ण को वशीभूत कर लेने वाली है, अनंत शक्ति संपन्न वशीकरणचूर्ण है -

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।
सद्योवशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि ॥

(श्रीराधासुधानिधि-३)

श्रीलालजू को तत्काल वशीभूत कर दे, ऐसी वशीकरण चूर्ण; क्योंकि श्रीलाड़िलीजू के चरणों के स्पर्श से युक्त है । इसलिए वृन्दावन रस की उपासना करने वाले सभी अपने श्यामा-श्याम के चरणों में अनन्य हो जाओ । सारे तीर्थ, सारे व्रत, सारे नियम-संयम सब हमारे प्रिया-प्रियतम के चिंतन में ही हैं, ऐसा मानो ।

ये वृन्दावन से प्रार्थना करो कि हे वृन्दावन! वह दिन कब होगा, जब मैं आपको छोड़कर एक क्षण ले लिए भी कहीं न जाऊं -

रे मन वृन्दाविपिन निहार ।

यद्यपि मिलै कोटि चिंतामणि तदपि न हाथ पसार ॥

विपिन राज सीमा के बाहिर हरिहूँ कूँ न निहार ।

जै श्रीभट्ट धूरि धूसर तन यह आसा उर धार ॥

अगर महत्त्व बुद्धि इधर नहीं रही और तीर्थों में जाने की मन में बात रही तो श्रीहितध्रुवदासजी ने कहा है -

तजि कैं वृन्दाविपिन को, और तीर्थ जे जात ।

छाँड़ि विमल चिंतामनी, कौड़ी कौं ललचात ॥

पाइ रतन चीन्ह्यों नहीं, दीन्हौ कर तैं डारि ।

यह माया श्रीकृष्ण की, मोह्यौ सब संसार ॥

(श्रीबयालीसलीला)

वृन्दावन में आकर के अगर और तीर्थों में जाने की आकाँक्षा है तो मानो रत्न को छोड़कर काँच बटोरने जा रहे हो, यही माया श्रीकृष्ण की है, जिसे हम समझ नहीं पा रहे हैं । अरे, आप वृन्दावन धाम वासी हो, वृन्दावन रस की उपासना वाले हो, आप वृन्दावन का आश्रय लेने वाले हो; जितने भी विश्व-ब्रह्माण्ड में तीर्थ हैं सब तीर्थराज प्रयाग में जाकर के कर देते हैं, क्योंकि वह तीर्थराज हैं और तीर्थराज प्रयाग आकर के यहाँ घुटने टेकते हैं वृन्दावन धाम में, तब वह तीर्थराज प्रयाग निष्पाप होते हैं; क्योंकि ये प्रभु का घर अर्थात् निज महल है । गर्ग संहिता में ये कथा लिखी है ।

अरे, हम लोगों के बड़े अहोभाग्य हैं, जैसे किसी गरीब आदमी को पारस मणी मिल जाय, ऐसे ही अपने लोगों के भाग्य हैं जो अपने लोगों को वृन्दावन का सान्निध्य, वृन्दावन में वास, वृन्दावन का नित्यदर्शन, वृन्दावन के रसिकों का संग मिला है लेकिन -

पाइ रतन चीन्ह्यों नहीं, दीन्हौ कर तैं डारि ।

रत्न मिला पर हम पहिचान नहीं पाए और छोड़ दिया उसे, इसीलिये सावधान रहकर अनन्य निष्ठा से रहो ।

प्र०-मेरा पहले झुकाव श्रीकृष्ण की ओर था किन्तु जबसे मैं वृन्दावन वास करने लगी हूँ तो मेरा झुकाव श्रीराधारानी की ओर आ रहा है ?

समाधान - ये श्रीकृष्णकृपा का फल है – **'लाल रंगीलो गाइये, तातें प्रीति रंगीली पाइये'** जो आपके मन में आया कि श्रीराधारानी के चरणों में प्रियता हमारे हृदय में उदित हो रही है, ये लाल जू की कृपा का प्रमाण है ।

श्रीलालजू महाराज जिस पर द्रवित हो जाते हैं उसे अपना प्राणधन श्रीराधाकिशोरीजू के चरणों का प्रेम दे देते हैं ।

प्र०-पहले मैं किसी से बात नहीं करती थी, बहुत एकान्तिक रहती थी, अब गुरुदेव ! मेरा व्यवहार सबसे बढ़ने लगा है ?

समाधान - ये बहुत बड़ी हानि की बात है, यदि अपनी उपासना पद्धति में लगना है तो -

न काहू सों बोलिबो, न काहू सों व्यवहार ।
अपनी कुँवरि किशोरी कों जियत निहार-निहार ॥

व्यवहार हर उपासना में बाधक है । ये माया (प्रपंच) है, ये आता जाएगा बढ़ता जाएगा, इसलिए सम्बन्ध रहित उदासीन रहना चाहिए । ये प्रेमियों का मार्ग है, कोई आए तो एक बार हृदय में चुभना चाहिए की हमारा एकांत चला जाएगा -

सुनत न काहूकी कही कहै न अपनी बात ।
नारायण वा रुप में मगन रहे दिन-रात ॥

श्रीपादप्रबोधानन्द जी ने भी वृन्दावनमहिमामृत में कहा है -

न कुरु न वद किञ्चद् विस्मराशेषदृश्यं
स्मर मिथुनमहस्तद् गौरनीलं स्मरार्त्तम् ।
बहुजन समवायाद् दूरमुद्विज्य याहि
प्रिय निवसतु दिव्य श्रीलवृन्दावनान्तः ॥ (१/३२)

'न तुम्हारे लिए कोई कर्त्तव्य है और न किसी से बोलो, दृश्यमान (दिखाई पड़ने वाले) सारे संसार को भूल जाओ, केवल तुम्हारा एक ही कर्त्तव्य है - प्रेमातुर उस गौर-नील जोड़ी का निरंतर चिंतन करना । जिस स्थान में बहुत लोग हों, उस स्थान से उद्विग्न-चित्त होकर दूर एकांत में चले जाओ ।' इस तरह से दिव्य वृन्दावनधाम में वास करना चाहिए ।

प्रेमी को एकांत प्रिय होने लगता है, वार्ता तो उसे सुहाती ही नहीं । रात-दिन हमसे कोई न मिले, हम प्रियालाल के चिंतन में डूबे रहें, यही हमारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन जाए । हम एक-एक क्षण श्रीप्रिया-प्रियतम के चिंतन में लगावें, इससे बढ़कर कुछ नहीं है। ज्यादा लोगों के साथ सम्बन्ध बनाने से अच्छे-अच्छों का पतन हो जाता है।

किसी से द्वेष मत करो लेकिन श्रीजी के अलावा न किसी से कोई व्यवहार करो और न परिचय जोड़ो । किसी से भी मिलो तो उदासीन भाव से । सम्बन्ध केवल श्रीजी से । ये बहुत फिसलन वाला मार्ग है, प्रभु की माया-शक्ति बड़ी प्रबल है -

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।' (गी. ७/१४)
'सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन ।' (मानस. ७/६२)
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ॥ (दुर्गासप्तसती)

'बड़े-बड़े ज्ञानियों के चित्त को भी महामाया बलात् आकृष्ट करके मोह में डाल देती है ।' बहुत विचित्र माया है - अनेकों रूप धारण करके आ जाती है; इसीलिये बहुत सावधानी से उदासीन भाव से रहते हुए, निरन्तर भजन परायण रहो । साधक को व्यवहार नहीं रखना चाहिए, व्यवहार शून्य जीवन होना चाहिए । अगर संग करना भी है तो - **इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस रीति ।**

मिलियै तहाँ निसंक ह्वै, कीजै तिनसौं प्रीति ॥ (श्रीबयालीसलीला)

जिनसे अपना आराध्यदेव, अपनी उपासना, अपना मन मिल रहा है, उन भक्तों से मिलते हैं और मिलने का तात्पर्य है - 'अगर हमें कोई भगवद्वार्ता सुननी है तो अन्यथा सबको मानसिक प्रणाम कर लो, सम्बन्ध किसी से नहीं रखना है', क्योंकि आज उसमें गुण दिखाई पड़ रहे है कल दोष भी दिखाई पड़ेगा और अगर दोष देख लिया तो भक्ति की हानि होगी ।

ज्यादा व्यवहार करना उपासक के लिए बहुत हानिकारक है, अपनी कुटिया में कोई आये तो भगवद्भाव से उसे प्राणाम कर लो- **'हँसि बोलै बहु मान दै'**, मृदु वचन से उसका सम्मान किया, जो रूखा सूखा है पवा दिया, प्रियालाल की बातें की, हमें किसी से अपना पर्सनल (निजी) सम्बन्ध नही बनाना है ।

प्र०- मैं वृन्दावन से बाहर रहता हूँ, कभी-कभी वृन्दावन आता रहता हूँ, मुझे मजबूरी में बाहर रहना पड़ता है, अब मैं क्या करूँ ?

समाधान - जब तक अन्दर से प्रबल निष्ठा नहीं प्रकट होती हो तब तक चिंतन प्रधान रखो । शरीर भले ही वृन्दावन से बाहर परिवार आदि के बीच में रहे पर मन से सतत् वृन्दावनधाम का चिंतन करते रहो, चिंतन से आसक्ति होती हैं ।

हम जिसका बार-बार चिंतन करते हैं तो उससे हमें लगाव-प्रेम हो जाता है । चिंतन से प्रीति हो जाती है -

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ८/१४)

'प्रभु कहते हैं जो मेरा, सतत स्मरण करता है उसके लिए मैं सुलभ हूँ ।' जैसे हम शरीर का चिंतन करते हैं तो शरीर से इतना लगाव हो गया कि शरीर मैं ही हूँ ऐसा हम मानने लगे, अगर हम वृन्दावन धाम का ऐसा चिंतन करें तो जहाँ भी देश-विदेश में रहते हो वहीं आपको वृन्दावन भासने लगेगा क्योंकि वृन्दावन चिन्दानंदमय है, सर्वव्यापी तत्त्व है । श्रीभगवदरसिकजी ने कहा - **'हमारे उर वृन्दावन और'** उन्हें प्रयाग में वृन्दावन का अनुभव होता था, इसी तरह चिंतन से ही श्रीसेवकजी महाराज को गढ़ा (जबलपुर, मध्यप्रदेश) में ही वृन्दावन के दर्शन हुए । आप जहाँ भी हैं वृन्दावन आपको बहुत नजदीक दिखाई देने लगेगा ।

यद्यपि प्रकट वृन्दावन का सान्निध्य बड़ा महिमामय है और बड़े भाग्य से मिलता है, यदि न मिल पाए तो हम दूर रहकर के भी वृन्दावन का चिंतन तो कर ही सकते हैं । उससे हमें वृन्दावन वास न करने पर भी वृन्दावन वास का फल मिल जाएगा क्योंकि हमारा चित्त वहाँ जुड़ा हुआ है -

जल में बसत कुमुदिनी चन्द्र बसे आकाश ।
जो जाके हृदय बसे सो ताहि के पास ॥

या फिर इस कोटि की निष्ठा हो कि सब छोड़कर के वृन्दावन वास के लिए चल पड़ें। श्रीहितचतुरासीजी में आचार्यचरण कहते हैं -

प्रीति न काहू की कानि बिचारै ।

मारग-अपमारग विथकित मन, को अनुसरत निवारै । (४२)

'आईं ब्रजनारी सुनत वंशी-रव, गृहपतिबन्धु बिसारे ।' (६३)

या तो इस कोटि का हृदय में अनुराग हो अन्यथा जब तक वह अनुराग नहीं आता तब तक चिंतन प्रधान रहो । जब अनुराग आयेगा तो या तो वृन्दावन वहां पहुँच जाएगा या वृन्दावन आपको यहाँ बुला लेगा ।

प्र०- महाराजजी कोई हमारा प्रिय सगा-सम्बन्धी है, अगर वह इस मार्ग में स्वयं नहीं चलना चाहता है किन्तु हमारी लालसा है चलने की, तो क्या हमें उसकी परवाह करनी चाहिए या नहीं ?

समाधान - श्रीतुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में लिखा है -

'जाके प्रिय न राम-बैदेही ।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

हमारा संसार में कोई सगा-संबंधी नहीं है, सब नाटक चल रहा है माया का । हमारे सगे-संबंधी केवल श्रीप्रिया-प्रियतम हैं, बाकी यहाँ सब केवल स्वार्थ का सम्बन्ध है । जिसको हमसे जिस तरह से सुख मिल रहा है वह वैसा ही प्यार कर रहा है, जिस दिन सुख मिलना बंद हो जाएगा कोई हमसे प्यार नहीं करेगा । वेदों में लिखा है -

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/५)

'कोई स्त्री पति से प्रेम करती है तो पति के सुख के लिए नहीं बल्कि अपने सुख के लिए; कोई पुरुष अपनी स्त्री से प्रेम करता है उसके सुख के लिए नहीं अपितु अपने सुख के लिए; इसी तरह से पिता या पुत्र परस्पर एक दूसरे से जो प्रेम करते हैं वे स्वसुखवाँछा के लिए करते हैं तत्सुख के लिए नहीं । ये है संसारी प्रेम का स्वरूप । श्रीमद्भागवत में भी श्रीकृष्ण ने गोपियों से कहा है -

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।

न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥ (१०/३२/१७)

'हे ब्रजदेवियो ! संसार में जो लोग एक-दूसरे से प्रेम करते हैं, उनका सारा उद्योग स्वार्थ को लेकर है क्योंकि वहाँ लेन-देन का व्यापार है, 'हम तुमसे प्रेम करेंगे तुम हमसे करो' ये एकमात्र स्वार्थ है, प्रेम नहीं । न वहाँ सौहार्द है और न ही धर्म ।'

आप खूब घुसकर संसार में देख लो सर्वत्र एकमात्र स्वार्थ-ही-स्वार्थ दृष्टिगोचर होगा, तभी तो महापुरुषों ने लिखा है -

सुर नर मुनि सब कै यह रीति ।

स्वारथ लागि करहिं सब प्रीति ॥ (मानस. ४/१२)

एक हमारे परिचित व्यक्ति थे, उनको लकवा मार गया था, उनकी एक बड़ी-सी बाजार में दुकान थी, बहुत चलती थी । रहने के लिए कई मंजिल मकान उन्होंने बनवाया था । अब लकवा मार गया था तो उन्होंने हमें स्वयं अपनी स्थिति रोते हुए बताई ।

वे बोले कि देखो बेटा ! ये सब मेरा कमाया हुआ है । अपनी पत्नी की तरफ इशारा करके बोले कि मैं इसका पति हूँ और आज यही स्त्री हमें भरपेट रोटी भी नहीं देती है, कहती है कि बार-बार शौच करोगे तो कौन फेकेगा । मेरे ही सामने दूसरे पुरुष से बात

करती है और जब मैं डाटता हूँ तो मुझे थप्पड़ मारती है । बेटा मुझे कोई जहर लाकर के दे दे मैं मर जाऊं तो अच्छा है । मैं यहीं पड़े-पड़े सब देखता रहता हूँ लेकिन कुछ बोल नहीं सकता । अब बताओ कैसा स्वार्थी संसार है । वह ये बता रहा था कि जब तक मैं कमा रहा था तो मैं जब घर में आता था तब यही हमारे पैरों से जूते-मोजे उतार कर रखती थी और बहुत प्यार दिखाती थी और आज जब मैं असमर्थ अवस्था में हूँ तो वही मुझे गाली देती है, मारती है, भर पेट भोजन भी नहीं देती हैं ।

अतः संसार में सब स्वार्थ का व्यापार है, एक मात्र प्रभु ही हमें सच्चा प्यार करने वाले हैं दूसरा कोई नहीं । वे बड़े भाग्यशाली जन हैं जो प्रभु प्राप्ति के इस मार्ग पर चल पड़ते हैं बिना किसी की परवाह किये । श्रीकृष्णचन्द्रजू महाराज ने स्वयं गीता जी में कहा -

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८/६६)

न किसी कर्तव्य की परवाह करो और किसी धर्म की, एकमात्र मेरी शरण में आओ, अगर स्वधर्म-त्याग से तुम्हें पाप भी लगेगा तो उससे मैं तुम्हें पावन करूँगा, तुम तो केवल मेरी शरण में आ जाओ । इसलिए हमें प्रभु के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखते हुए उनकी शरण ग्रहण करनी है और उसमें जो भी बाधक बने, उसकी तरफ ध्यान नहीं देना है अर्थात् उसकी परवाह नहीं करनी है ।

प्र०-महाराजजी, वासना कैसे हटेगी ?

समाधान - 'वासना' उपासना से नष्ट होती है । हम अपनी गुरु प्रदत्त उपासना में मन को इतना तन्मय कर दें कि वासना का महत्त्व ही नष्ट हो जाए ।

प्र०-महाराजजी, प्रभु की कृपा कैसे मिलेगी ?

समाधान - सच्चाई से चलो, जितने बनो सच्चे बनो । हम जैसे भी हैं अपने आराध्यदेव से सच्चे रहें वो सच्चाई से प्रसन्न होते हैं । सन्तों ने कहा है -

सांई से साँचा रहो सांई साँच सुहाय ।
भावै लंबे केस रख भावै घोंट मुँड़ाय ॥

श्रीप्रियादासजी महाराज ने श्रीभक्तिरसबोधिनी टीका में भी लिखा -

'हरि गुरु दासनि सों साँचो सोई भक्त सही'

वह कार्य न करो, जो प्रभु को पसंद न हो । 'शास्त्र और संतवाणी' हमें इनके अनुसार चलना है । लोक में भी हम चाहते हैं कि हमें अमुक पद मिले तो पहले उसके अनुसार चलना होता है । जैसे किसी को सेना में भर्ती होना है तो उसमें एक फौजी के समस्त गुण विद्यमान होने चाहिए, जब एक साधारण से पद की प्राप्ति के लिए नियम कायदे से चलना पड़ता है फिर ये तो परमपद है प्रभु का । हमसे कोई गंदा आचरण (अधर्माचरण) न हो, किसी का दिल न दुःख पाए, हम सत्मार्ग का अनुसरण करें, सतत नामजप करें, सबमें भगवद्भाव रख्खें; - यदि इस तरह से चलोगे तो प्रभु से कृपा की याचना करनी थोड़ी पड़ेगी, अपने आप कृपा हो जायेगी ।

प्र०-महाराजजी, जब मैं घर में प्रभु की सेवा करती हूँ या भजन करती हूँ तो मेरे पति एवं घरवाले मुझे डाटते रहते हैं, मैं क्या करूँ ?

समाधान - ये तुम्हें सहना पड़ेगा, 'गाली मिलना, निंदा होना, अपमान मिलना' - ये हमारे मार्ग के पुरस्कार हैं । जब ये मिलने लगें तो समझिये कि आपकी भक्ति में मोहर लग गयी, अब भक्ति चमकने वाली है । जितना लोग तुम्हारी निंदा करेंगे उतना ही तुम आगे बढ़ती चली जाओगी । श्रीरत्नावतीजी ने जब भगवत-मार्ग में

आगे बढ़ना चाहा तो उनका पति ही उनका कट्टर विरोधी हो गया । श्रीमीराजी का राणा विक्रम विरोधी हो गया, सास विरोधी हो गयी **'सास कहे कुल नासी रे'**, ऐसे कितने चरित्र हैं भक्तों के, जब हम भक्तिमार्ग में आगे बढ़ते हैं तो ये सब बाधाएँ आती रहती हैं, हमें इनको सहना पड़ेगा । नामाचार्य श्रीहरिदासठाकुरजी का क्या दोष था लेकिन २२ बाजारों में उनको पीटा गया; ये इनाम है इस मार्ग का । हमारे प्रियतम से प्यार करने का ये इनाम है । जिसे इस मार्ग में चलना है तो फूल-माला भी मिलेंगी और कोड़े भी मिलेंगे । प्रशंसा यानी जय-जयकार भी होगी तो निंदा भी होगी, गालियाँ भी मिलेंगी। जब दोनों को समान भाव से स्वीकार करने की शक्ति आ जाएगी तब श्रीप्रियाप्रियतम मिल जायेंगे । इसलिए विरोध होगा ही होगा, अगर अभी नहीं हो रहा है तो इन्तजार करो आगे होना प्रारम्भ होगा । अरे, आपके परिवारीजनों की बुद्धि में बैठकर देवता उन्हें आपके खिलाफ कर देंगे; किसी भी भक्त के जीवन में देख लो, सबका विरोध हुआ।

श्रीसखूबाईजी के चरित्र में आता है - इन्होने बचपन से अपने घर से ही भक्ति प्रारंभ की थी, अब उनका विवाह जिस घर में हुआ तो पति और सास-ससुर तीनों दुष्ट प्रवृत्ति के थे । जब भी वे ठाकुर जी की सेवा-पूजा करतीं या भजन-कीर्तन करतीं तो वे लोग उन्हें पीटते थे लेकिन वे सब सहती रहतीं तो इसका फल ये हुआ कि उनको साक्षात् प्रभु के एक सहेली के रूप में दर्शन हुए । अतः सहने की आदत डाल लेनी चाहिए ।

ओरछा में रानी भागमती जी हुई हैं, ये श्रीराधारानी की भक्त थीं । जब वो भजन करती थीं तो उनका पति (राजाओं की कई रानियाँ होती थीं) उनके ऊपर विस्तर (पलंग) बिछाता और उनका

उपहास करने के लिए उसके ऊपर दूसरी रानी के साथ शयन करता और भागमती जी को मारता कोड़ों से, लेकिन भागमती रानी श्रीराधारानी के चरणों के चिन्तन में मगन रहतीं ।

तो देखो सभी भक्तों के जीवन में कितने कष्ट आये, क्यों? ये भगवान् दिखाते हैं कि देखो, हमारे भक्त की सहनशीलता; तब वो भगवद्-रस का अधिकारी बनता है । अगर गाली मिलने लगे तो हर्षित हो जाओ कि ठाकुर के मिलने की सूचना आ गयी और अगर सम्मान मिलने लगे तो भयभीत हो जाओ कि कहीं फँस न जाएँ । सम्मान फँसा लेता है बड़े बड़ों को । इसीलिये भर्तृहरिजी ने महादेव जी की आराधना करके माँगा था की मैं जिस घर में भिक्षा के लिए जाऊं वहीं हमारा अपमान हो । मुझे अनादरपूर्वक भिक्षा मिले । श्रीनागरीदासजी महाराज ने एक पद में लिखा है -

बड़ौई कठिन है भजन ढिंग ढरिबौ ।
तमक सिंदूर मेलि माथे पर, साहस सिद्ध सती कौ सौ जरिबौ ॥
रण के चार घायल ज्यौं घूमै, मुरै न गरूर सूर कौ सौ लरिबौ ।
नागरीदास सुगम जिन जानों, श्रीहरिवंश पंथ पग धरिबौ ॥

भजन करना कोई खेल नहीं है, भजन के लिए शूरवीर बनना पड़ता है; शूर वह होता है युद्ध में सिर कटने पर भी जिसका धड़ आगे बढ़ता जाता है -

सूर सोई रन भूमि कौं, तजै न जब लगि प्रान ।
धर्मी ऐसौ चाहिये, उर नहिं आनै आन ॥ (श्रीबयालीसलीला)

वह युद्ध ही क्या जिसमें घाव न हों, वह योद्धा ही क्या जिसके खरोंच न लगी हो । अगर भगवत-मार्ग में चले और विपत्तियों से लड़ना न सीखे तो वह कैसा भगवत-मार्ग का पथिक ।

इसलिए किसी भी बाधा से घबड़ाना नहीं चाहिए, उसका डटकर सामना करना चाहिए ।

प्र०-महाराजजी, कलिकृत विघ्नों का हम पर कोई प्रभाव न पड़े, ये कैसे हो, यानी कलयुग के दोषों से कैसे बचा जाए ?

समाधान - आगे मनुष्यों के लिए बड़ा अहितकारी समय आने वाला है क्योंकि धीरे-धीरे महापुरुषजन लीला संवरण कर रहे हैं और जब संत नहीं रहेंगे तो दम्भ-पाखण्ड का बोलबाला होगा, जीव छले जायेंगे लेकिन उस समय भी जो सच्चे सन्तों के सान्निध्य में रहेंगे तो कलिकृत विघ्न आदि उस उपासक के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकते। श्रीसेवकजू महाराज कहते हैं -

कलि अभद्र वरनत सहस, कलि कामादिक द्वंद तब ।
सेवक शरण सदा रहै, सुविधि साँचे अनन्य सब ॥

(श्रीसेवकवाणी)

राधावल्लभ-भजत भजि भली-भली सब होइ ।
जिते विनायक शुभ-अशुभ विघ्न करैं नहिं कोइ ॥
विघ्न करैं नहिं कोइ डरैं कलि-काल कष्ट भय ॥
हरैं सकल संताप हरषि हरिनाम जपत जय ।

(श्रीसेवकवाणी)

जब तक श्रीराधावल्लभ का भजन करने वालों का भजन अर्थात् उनका सान्निध्य, उनकी सेवा, उनका कृपा प्रसाद मिलता रहेगा; तब तक कलियुग के जो अभद्र हैं वो सब डरते हैं, उस साधक को कहीं बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं ।

चाहे जितनी आँधी आ जाए जो गाँव किसी पहाड़ की ओट में है तो वह सारा का सारा गाँव उस भयंकर आँधी-तूफान से बच

जाता है; ऐसे ही एक भगवत्प्राप्त महापुरुष जहाँ होता है, वह बहुत बड़े वायुमंडल को विघ्नों से बचाता है । जो दीनता पूर्वक सदैव भजन परायण महापुरुष हैं वो महापुरुष इस संसार को नाना प्रकार की विपत्तियों से बचाने के लिए पहाड़ जैसे हैं । उन्हीं की छत्रछाया में हम जैसे लोग अधर्माचरण करते हुए भी आनंद से रह रहे हैं । आज के समय में अर्थ-प्राप्ति, कामना-पूर्ति, भोग-विलासिता यही हमारा उद्देश्य रह गया है । हमारा खूब यश हो जाए, हम खूब धनी-मानी बन जाएँ और मनचाही भोग-सामाग्री हमें मिलती रहे बस यही हमारा जीवन का उद्देश्य बन गया है । जबकि भगवत-मार्ग के पथिक के लिए ये सब चीजें बाधक हैं -

सुख सम्पति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ।
ये सब रामभक्ति के बाधक । कहहिं संत तव पद अवराधक ॥

(श्रीरामचरितमानस ४/७)

लेकिन यही सब चीजें हमारा लक्ष्य बन गयीं, अब दुर्दशा नहीं होगी तो और क्या होगा । धीरे-धीरे सच्चे संतों का अंतर्ध्यान होना हम लोगों के लिए अहित सूचक है; इसलिए शीघ्रातिशीघ्र ऐसी स्थिति बना लें कि इसी जन्म में भगवत्प्राप्ति हो जाए । अगर दूसरा जन्म भी हो तो कर्मबंधन के अधीन न हो, भगवद् अनुराग से युक्त हो ।

प्र०-महाराजजी, संतजन कहते हैं कि भगवान् किसी भी रूप में आ जाते हैं तो हम उन्हें पहचानें कैसे ?

समाधान - जो भी रूप सामने आये, सबको प्रणाम करने की आदत डाल लो - **तुलसी या संसार में सबसों मिलिए धाय ।**
न जाने केहि वेश में नारायण मिलि जाएँ ॥

सही पूछो तो भगवान् किसी भी रूप में नहीं आते बल्कि भगवान् तो सभी रूपों में हैं ही; सबकुछ प्रभु ही बने हुए हैं -

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः । (गीताजी ७/१९)

जब सृष्टि नहीं थी तब केवल भगवान् श्रीकृष्ण थे, जब सृष्टि नहीं रहेगी तब भी केवल भगवान् श्रीकृष्ण रहेंगे तो बीच में जो कुछ बने हुए हैं वो प्रभु ही तो बने हुए हैं, दूसरा कोई है ही नहीं । जब तक अज्ञान की दृष्टि है तब तक दूसरा दिखाई पड़ता है -

वासनात् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम् ।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥ (विष्णुसहस्रनामस्तोत्र)

'त्रिभुवन जिनकी सत्ता भाव से सुवासित है, सभी प्राणियों के हृदयस्थ ऐसे वासुदेव श्रीकृष्ण को नमस्कार है ।'

इसीलिये जो भी सामने आए - हमारे प्रभु ही इस रूप में हैं ऐसा मानकर उसको प्रणाम करोगे तो धीरे-धीरे दृष्टि बदलेगी और आपको सही मायने में दिखाई देने लगेगा कि प्रभु ही सब रूपों में हैं। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कह रहे हैं -

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥

(श्रीरामचरित. १/७)

समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् प्रभु का ही स्वरुप है, ऐसा जानकर मैं सबको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ । गोपीजन कहती हैं - ''जित देखूँ तित श्याममयी है', सारा जगत् श्यामसुन्दर ही है, ऐसा गोपीजनों को अनुभव हुआ । अगर आप भी अभ्यास करेंगे तो आपको भी अनुभव होने लगेगा क्योंकि भगवान् ही सब रूपों में हैं । श्रीनामदेवजी का चरित्र पढ़कर के देखो - 'कुत्ता, प्रेत, मुगल

सिपाही' उन्होंने सभी में भगवद्भाव किया तो वहीं-वहीं उन्हें प्रभु के दर्शन हुए ।

अपवित्र मन ये बात नहीं समझ सकता कि 'प्रभु कहीं कुत्ते-प्रेत में भी हो सकते हैं, ये दुष्ट कहीं प्रभु हो सकता है' - ये बातें मन में आती रहेंगी । जब तक हमें प्रभु के अलावा कुछ और दिखाई दे रहा है तो समझो अभी हमारा अन्तःकरण अशुद्ध है । गन्दे अन्तःकरण में ये बात समझ में नहीं आती है कि सब रूपों में प्रभु हैं; इसलिए पहले साधन (नामजप, कथा-कीर्तन) आदि के द्वारा अन्तःकरण को पवित्र करो, ज्यों ही अन्तःकरण पवित्र हुआ तो दिखाई देने लगेगा कि चराचार जगत् के रूप में वही एकमात्र सच्चिदानंद प्रभु है ।

प्र०-महाराज जी मुझे कुछ अर्थ की व्यवस्था करने के लिए धाम से बाहर जाना पड़ता है, क्या ठीक है जाना ?

समाधान - जब हम वृन्दावन आये थे तो न हमारे पास एक रुपया था, न कोई मित्र था, न कुछ खाने को था और न ही कोई यहाँ किसी से परिचय था । आज देखो वास भी है, भोजन भी है और बहुत प्यार करने वाले लोग हैं । ये केवल श्रीजी की अनन्य शरणागति से और धाम का निष्ठा पूर्वक आश्रय लेने से हुआ है । इसलिए हम कैसे मानें कि आपको अर्थ की व्यवस्था करने के लिए बाहर जाना पड़ेगा; आपने मान रखा है इसलिए आपको जाना पड़ता है । अगर आज से आप जाना बंद कर दें तो आप देखोगे कि आप भूखे नहीं रहोगे हमारी श्रीजी स्वयं आपके पास भोजन का थाल लेकर के आयेंगी । वे बहुत करुणामयी हैं । ये वृन्दावन धाम उनका निज महल है । यहाँ पर एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो यह

सिपाही' उन्होंने सभी में भगवद्भाव किया तो वहीं-वहीं उन्हें प्रभु के दर्शन हुए ।

अपवित्र मन ये बात नहीं समझ सकता कि 'प्रभु कहीं कुत्ते-प्रेत में भी हो सकते हैं, ये दुष्ट कहीं प्रभु हो सकता है' - ये बातें मन में आती रहेंगी । जब तक हमें प्रभु के अलावा कुछ और दिखाई दे रहा है तो समझो अभी हमारा अन्तःकरण अशुद्ध है । गन्दे अन्तःकरण में ये बात समझ में नहीं आती है कि सब रूपों में प्रभु हैं; इसलिए पहले साधन (नामजप, कथा-कीर्तन) आदि के द्वारा अन्तःकरण को पवित्र करो, ज्यों ही अन्तःकरण पवित्र हुआ तो दिखाई देने लगेगा कि चराचार जगत् के रूप में वही एकमात्र सच्चिदानंद प्रभु है ।

प्र०-महाराज जी मुझे कुछ अर्थ की व्यवस्था करने के लिए धाम से बाहर जाना पड़ता है, क्या ठीक है जाना ?

समाधान - जब हम वृन्दावन आये थे तो न हमारे पास एक रुपया था, न कोई मित्र था, न कुछ खाने को था और न ही कोई यहाँ किसी से परिचय था । आज देखो वास भी है, भोजन भी है और बहुत प्यार करने वाले लोग हैं । ये केवल श्रीजी की अनन्य शरणागति से और धाम का निष्ठा पूर्वक आश्रय लेने से हुआ है । इसलिए हम कैसे मानें कि आपको अर्थ की व्यवस्था करने के लिए बाहर जाना पड़ेगा; आपने मान रखा है इसलिए आपको जाना पड़ता है । अगर आज से आप जाना बंद कर दें तो आप देखोगे कि आप भूखे नहीं रहोगे हमारी श्रीजी स्वयं आपके पास भोजन का थाल लेकर के आयेंगी । वे बहुत करुणामयी हैं । ये वृन्दावन धाम उनका निज महल है । यहाँ पर एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो यह

कहे कि हमें दस दिन हो गए वृन्दावन में और भोजन नही मिला । जो स्वयं व्यवस्था करके चलते हैं वे तो हो सकता है कि एक सब्जी से खायेंगे, लेकिन जिनके पास व्यवस्था नहीं उनको १० सब्जियाँ मिलेंगी खाने को । मधुकरी माँगने जाओ तो अलग-अलग घर की सब्जियाँ मिलती हैं, कहीं भंडारे में जाओ तो ४ प्रकार की सब्जियाँ-मिष्ठान्न और १०-२० रुपये दक्षिणा तक मिल जाती है । हम तो यही कहते हैं कि सबसे बड़ा आश्रय श्रीप्यारीजू के गोरे चरणारविन्द का है, जिनके अधीन सदा लालजू रहते हैं और लाल जू के अधीन अनंत सृष्टि है तो हम इनको छोड़कर कहाँ जाएँ ? यद्यपि ऐसी निष्ठा आना थोड़ा कठिन होता है क्योंकि हम लोग कर्माभिमानी हैं, हमें लगता है हम जो कर्म करके कमाई करते हैं उसी से हमारा पोषण होता है । मान लो आप धन कमाने के लिए बाहर गए और वहीं प्राण छूट गए तो बहुत बड़ी चूक हो जायेगी और यहाँ अगर किसी के भी प्राण छूटेंगे तो यह निश्चित है कि वो अधोगति को नहीं प्राप्त होगा, भले ही चाहे जितना बड़ा ही पापी क्यों न हो ? उसका परम मंगल होगा; क्योंकि यह श्रीप्रिया-प्रियतम का निज महल है न -

पटतर वृन्दाविपिन की, कहि धों दीजै काहि ।
जिहिं बन की ध्रुव रेनु में, मरिबौउ मंगल आहि ॥

(श्रीबयालीसलीला)

श्रीजी मिल जायेंगी ये तो नहीं कहते, मान लो घोर अपराध कर रहा था, भजन नहीं कर रहा था तो श्रीजी तो नहीं मिलेंगी, पर एक जन्म और उसका इसी रज में होगा और उसके अपराध को मिटाकर फिर श्रीजी मिल जायेंगी । तीसरा जन्म नहीं होगा । सुअर-

कुत्ता जो भी बनेंगे इसी धाम के बनाए जायेंगे; जो बनने के लिए बड़े-बड़े महापुरुष आकाँक्षा करते हैं -

कूकर ह्वै ब्रज-बीथिन डोलौं, बचे सीथ रसिकन के पाऊँ ।
ललित किसोरी आस यही मम, ब्रज रज तज छिन अनत न जाऊँ ॥

वही आपको बनाया जाएगा ये हुआ दण्ड । कुत्ता बन गए रज में लोटते हुए शरीर पूरा हुआ श्रीजी मिल जायेंगी । इसीलिये यहाँ के जैसा लाभ कहाँ है । अतः हम तो यही कहेंगे कि किसी भी स्थिति में धाम के बाहर न जाया जाए, श्रीजी अपने-आप यहीं सब व्यवस्था कर देंगीं ।

प्र०-महाराजजी ! हमारे शरीर में बहुत कष्ट हैं आप ऐसा कोई मन्त्र या उपाय बताइये जिससे हम बिल्कुल स्वस्थ्य हो जायें ?

समाधान - मन्त्रों के द्वारा इस शरीर को ठीक कर लोगे लेकिन फिर जब मरोगे तो पुनः दूसरा शरीर प्राप्त होगा वहाँ भी कष्ट आयेंगे तब क्या करोगे । इसीलिये ये शरीर ठीक करने का चक्कर छोड़ो और नाम जप करो । ये जीविताशा बड़ी प्रबल होती है - आँखें खराब हो गयीं, दांत खराब हो गए, हाथ-पैर काम नहीं करते हैं फिर भी मनुष्य जीना चाहता है; संसार उसे नाना प्रकार से कष्ट दे रहा है फिर भी जीना चाहता है, बड़ा विचित्र मोह है शरीर पर । युधिष्ठिरजी ने यक्ष से यही तो कहा था -

अहनि अहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ (महा.वन. ३/३/११६)

'प्रतिदिन देहधारी जीव यमलोक को जा रहे हैं अर्थात् नित्य कोई न कोई मर रहा है फिर भी जो यहाँ बचे हैं, वे जीने की आशा रखते हैं - यह कितने आश्चर्य की बात है ।'

इसलिए पहले ये निश्चय करो कि एक दिन हमें ये शरीर छोड़ना है यानि मरना है **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'** (गी.२/२७) फिर यह सोचो कि हमें जो नया शरीर मिले वह बहुत अच्छा होना चहिये । ऐसा दुःखमय (जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से युक्त) शरीर को दोबारा हम क्यों प्राप्त करें । तो हम क्या करें ? हम इतना भजन बढावें कि हम भाव देह (अन्तश्चिन्तित वपु) को प्राप्त कर लें । पञ्चभौतिक देह, मल-मूत्र बनाने की मशीन को हम पुनः प्राप्त न करें, ऐसा शरीर जिसमें नाना प्रकार के रोग आदि न हों उसको प्राप्त करें । इसलिए छोड़ों इस शरीर के झंझट और खूब नाम जप करो श्रीजी से प्रार्थना करो - **स्वामिनी वेगि करुना करौ ।**

ज्यों ढरति आईं सहज बलि, त्यौं हि मोपै ढरौ ॥

कै मिलावौ किंकरिन में, मिटै तन झगरौ ।

कै मुदित प्रतिक्षन उदित, मेरे हृदय बिहरौ ॥

प्र०-महाराजजी ! मैं बड़ा भ्रमित हूँ क्योंकि कई उपास्य देवों के प्रति मेरा मन जाता है अतः मैं यह सुनिश्चित नहीं कर पा रहा हूँ कि किसको अपना इष्ट बनाऊँ ?

समाधान - जैसे एक कुंवारी कन्या होती है, जब तक उसका विवाह नहीं होता तब तक वह कई पुरुषों की फोटो देखती है और सब उसे अच्छे लगते हैं लेकिन जब उसका विवाह हो जाता है तो फिर वह पातिव्रत-धर्म से युक्त हो जाती है । एक पति निष्ठा उसके अन्दर आ जाती है । इसी तरह से अभी आपकी स्थिति कुंवारी कन्या जैसी है । आप प्रभु के जिस स्वरूप को देखते हैं उसी में आपका मन चला जाता है यदि आप एक आराध्यदेव का चयन कर लें और उन्हें प्राणाराध्य मान लें तो भटकाव बंद हो जाएगा; किन्तु वह आराध्यदेव

का चयन गुरुदेव की कृपा से होता है । आप किसी महापुरुष को गुरुदेव मान लीजिये और उनके द्वारा प्रदत्त नाम और उपासना को अपना आराध्य मान लीजिये, मन का भटकाव बंद हो जाएगा तब दृढ़ता आ जायेगी कि अब हमारा मार्ग यही है, हमें इधर-उधर नहीं भटकना है । पर अभी क्या है जहाँ जिधर चाहे मन चला जाता है ।

प्र०-गोपी भाव और सखी (सहचरी) भाव में क्या अन्तर है ?

समाधान - दोनों ही भाव श्रृंगाररस के अन्तर्गत हैं - गोपी (कांता) भाव माने माधुर्य रस और सहचरी भाव माने महामाधुर्य रस ।

गोपी (कांता) भाव में श्रीकृष्ण की प्रधानता है, श्रीकृष्ण हमें मिलें आलिंगन आदि करें; जैसे रासपंचाध्यायी में गोपीगीत में गोपियों ने श्रीकृष्ण से याचना की **'प्रेम वीक्षणम्'** या **'नस्तेऽधरामृतम्'**; हे कृष्ण! आप प्रेम भरी चितवन से हमारी ओर देखो, हमें अपने अधरामृत का पान कराओ ।

सहचरी भाव में श्रीराधाचरणारविन्द की प्रधानता है । सहचरियाँ श्रीकिशोरीजू की निज दासी हैं; और श्रीप्रिया-प्रियतम की बड़े दुलार से आठों प्रहर सेवा करती है; पर गोपियों की भाँति दासी के मन में यह कामना नहीं होती कि कृष्ण हमें आलिंगन आदि देकर आनंद प्रदान करें; सहचरी की तो एकमात्र यही इच्छा रहती है कि श्रीप्रिया-प्रियतम आपस में मिलें, हम उनकी सेवा में मगन रहें, उनको सुख पहुँचाते रहें, उनको आशीर्वाद देते रहें -

'जैश्रीहित हरिवंश लाल-ललना मिलि, हियौ सिरावत मोर ।'

'दै असीस हरिवंश प्रसंसत, करि अंचल की छोर ।'

'जैश्रीहितहरिवंश असीस देत मुख, चिरजीवौ भूतल यह जोरी ॥'

(श्रीहितचतुरासी-३१,३५,५४)

देत असीस निरखि जुवतीजन, जिनकैं प्रीति न थोरी ।
जै श्रीहित हरिवंश विपिन भूतल पर, संतत अविचल जोरी ॥

(श्रीहितचतुरासी-७०)

श्रीप्रियालाल की सुख सामाग्री सँजोना, दोनों को सुख प्रदान करना, दोनों को दुलार करना, दोनों को आशीर्वाद देना यही सहचरी भाव है; मतलब उनसे सुख लेने की कोई भावना नहीं; क्योंकि दोनों ही सहचरियों के प्रीतम हैं - **'विहरत दोऊ प्रीतम कुञ्ज ।'** अगर श्रीकृष्ण किसी सहचरी को आलिंगन आदि प्रदान करते भी हैं (सहचरियों को श्रीलालजू की अयाचित कृपा प्राप्त होने पर) तब भी उनका मन, श्रीस्वामिनी जू के श्रीचरणों के रस विलास में मग्न रहता है -

निजप्राणैश्वर्या यद् अपि दयनीयेन्यमिति मां
मुहुश्चुम्बत्यालिङ्गतिसुरतमाध्व्या मदयति ।
विचित्रां स्नेहर्धिं रचयति तथाप्यद्भुतगतेस्-
तवैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मनः ॥ (रा.सु.नि.-५५)

प्र०-महाराज जी दास्य भाव और दासी भाव में क्या अन्तर है ?

समाधान - दास्य-भाव में ऐश्वर्य रहता है, ये हमारे भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डों के स्वामी, अनन्त महिमा वाले हैं । श्रीरूपगोस्वामी जी दास का लक्षण भक्तिरसामृतसिन्धु में लिखते हैं -

दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः ।
विश्वस्ताः प्रभुता ज्ञान विनम्रितधियश्च ते ॥

'प्रभु के दास ग्रीवा झुकाए हुए अर्थात् नीची दृष्टि रखने वाले, आज्ञाकारी, विश्वासी, स्वामी की महिमा का ज्ञान रखने वाले और विनम्र मति वाले होते हैं ।' ऐश्वर्य रहने के कारण दास संकोच में रहता है वो कुछ कह नहीं सकता, अपनी मन की सेवा नहीं कर

सकता; जैसी आज्ञा हुई वैसा करता है और यहाँ दासी (किंकरी, सहचरी) भाव में भगवद् ऐश्वर्य का विस्मरण होकर उन्हें आठों प्रहर दुलार देना, आशीर्वाद देना -

ऐसैं ही रंग करौ निशि-बासर, वृन्दाविपिन कुटी अभिराम ।

(श्रीहितचतुरासी-५६)

बिलकुल लाड़ भरी सेवा, प्यार भरी सेवा; यह हमारे भगवान् नही हमारे प्रिया-प्रियतम, हमारे लाड़िली-लाल । देखो वृन्दावन में 'राधावल्लभ लाल, राधारमणलाल, बाँके विहारीलाल; वहाँ दास्य भाव में ऐश्वर्य की प्रधानता है और ऐश्वर्य में खुलकर के सेवा नहीं हो पाती है । दास हर समय स्वामी के समक्ष ग्रीवा झुकाए खड़ा रहेगा और जो आज्ञा होगी, वही करेगा । यहाँ ऐसा नहीं है यहाँ हमारे ही मन के अनुसार सेवा होगी; क्योंकि हमारा (सहचरी का) मन श्री जी का मन, श्री जी का मन हमारा मन -

'मन-मन की रुचि जानि नेह-विधि अनुसरैं ।'

श्रीप्यारीजू और श्रीप्यारेजू दोनों हमारे प्राण प्यारे हैं; यहाँ ये स्मरण नहीं रहता कि ये भगवान् हैं । बहुत प्यार भरी सेवा है निकुँज की उपासना में ।

प्र०-महाराज जी ! हमने शास्त्रों में सुना है कि जब गुरु के पास आयें तो कोई भेंट लेकर के आयें, हम कोई भेंट लेकर नहीं आ पाते ?

समाधान - गुरु को सबसे ज्यादा भेंट प्रिय है भजन । सही पूछो तो गुरु को प्रसन्नता तब होगी जब खूब भजन करोगे और उनके सामने आओगे और वह देखेंगे कि आपकी आखें भर आईं तो उनकी भेंट हो गयी । उनके हृदय को तभी सुख मिलेगा जब आप सतत् भजन करेंगे और भगवत्प्रेम में उन्मत्त होंगे - तब उनका हृदय शीतल होगा

कि एक भेंट तो श्रीजी ने स्वीकार कर ली, एक जीव भगवद् अनुरागी बना, ये गुरु के हृदय की शीतलता का विषय होगा । कोई आये और बहुत धन भेंट करे और इसके बाद व्यभिचार करे, गंदे आचरण करे तो उसको देखते ही गुरु का हृदय जलेगा कि ये न ही आये तो अच्छा है, सच्ची भेंट है आप खूब भजन परायण रहें ।

प्र०-महाराज जी, भजन का सही स्वरूप क्या है ?

समाधान - बिना किसी प्रयास के अनायास ही अपने आराध्यदेव की स्मृति (याद) आना यही सच्चे भजन का स्वरूप है । इसी स्थिति को लाने के लिए ही प्रारम्भ में भजन-साधन नियमपूर्वक किया जाता है।

प्र०-महाराजजी, जिस समय मन्त्र जपने में मन नहीं लगता तो उस समय हम क्या करें ?

समाधान - जब मन्त्र जपने में मन नहीं लगे तो 'राधा-राधा' नाम जपने लगो और यदि नाम जपने में मन नहीं लग रहा हो तो किसी पद को गुनगुनाने लगो । हमें किसी भी तरह हर समय श्रीजी से जुड़े रहना है और अगर बिल्कुल भी कहीं मन नहीं लग रहा है तो शयन भले ही कर लो लेकिन किसी से प्रपंच की बात मत करो, गंदे आचरण नहीं करो ।

जैसे होता है आज मन नहीं लग रहा चलो टी.वी. देखें तो उससे गलत संस्कार हमारे अन्दर आ जायेंगे और उन्हें मिटाने में फिर कितना समय जाएगा; अज्ञानी साधक ये नहीं समझता कि गलत संस्कार भरने में समय नहीं लगता लेकिन मिटाने में कितना समय लगता है । आप एक दृश्य देख लो, उसी का जाने कितने दिनों तक चिंतन चलता रहेगा; इसलिए बहुत संभलकर चलो, भजन भले न बने लेकिन कुसंग न होने पाए ।

अधिकांश साधक ४-६ घंटे साधन करते हैं फिर कुछ समय कुमार्गगामी हो जाते हैं, उन्हें ये पता नहीं कि तुमने जो साधन किया उसका फल है अन्तःकरण को पवित्र करना, लेकिन तुमने कुमार्ग पर चलकर फिर इतनी गंदगी इकट्ठी कर ली कि कई दिनों तक वह अन्तःकरण में जमा हो गयी । इसलिए भले ही भजन कम हो - 'गलत आचरण, गलत चिंतन, गलत वार्ता, गलत संग हमारे द्वारा न हो' - ये सावधानी रखनी है ।

प्र०-शास्त्रानुसार आचरण करने से क्या लाभ होता है ?

समाधान - तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तंकर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ (गी. १६/२४)

शास्त्र के अनुसार कार्य करने से हमें संसार से वैराग्य हो जाता है और शास्त्र विरुद्ध आचरण करने से संसार का जो मल है काम-क्रोध-लोभ आदि ये हमारे अन्तःकरण में और आकर के प्रभाव डालते हैं । ये शास्त्र की सूक्ष्म बात है यदि हम धर्म से चलेंगे तो हमें संसार से वैराग्य हो जाएगा ।

प्र०-महाराज जी, हम श्रीप्यारीजू का रूप ध्यान कैसे करें ?

समाधान - जब तक सतत् नाम रटन नहीं होगा, तब तक वह रूप हृदय में प्रकाशित ही नहीं होगा । बाहर जितनी भी सृष्टि में चित्रकारी है आज तक वह स्याही या लेखनी या चित्रकार नहीं बना है, जो श्रीप्यारीजू के श्रीअंग की चित्रकारी कर सके; श्रीस्वामी हरिदास जी ने कहा है - **प्यारी जू जब जब देखौं तेरौ मुख**

तब तब नयौ नयौ लागत ।

एसौ भ्रम होत मैं कबहूँ देखी न री

दुति कौं दुति लेखनी न कागत ॥ (श्रीकेलिमालजी-३४)

न ऐसा कोई कागज है, न ऐसी कोई लेखनी बनी, न ऐसा कोई चित्रकार बना है और न ही ऐसी कोई स्याही है कि जिससे हम श्रीप्रियाजू की आकृति बना सकें । अगर श्रीप्यारीजू और श्रीलालजू के रूप का परिचय जानना है तो वह परिचय 'नाम' जनाता है; उनके नाम का आश्रय ले लो । आप सतत नाम जप करिए, नाम से वह रूप अपने-आप प्रकट हो जाएगा । जैसा श्रीराधा या श्रीकृष्ण नाम का जप करो तो उसके साथ नाम का चिंतन भी करो । नाम में ही वह रूप आ जाएगा, जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते । ऐसा रूप न कहीं किसी चित्र में देखा होगा और न ऐसे रूप की आप कभी कल्पना कर सकते हैं, श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी कहते हैं -

देखौ माई सुंदरता की सींवाँ ।
ब्रज नव तरुनि कदंब नागरी, निरखि करत अध ग्रीवाँ ॥
जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै, रसना कोटिक पावै ।
तऊ रुचिर वदनारविंद की, शोभा कहत न आवै ॥

(श्रीहितचतुरासी ५२)

'तेरौ रूप कहत नहिं आवै । जैश्रीहित हरिवंश कछुक जस गावै ॥'

(श्रीहितचतुरासी १८)

प्यारी जू का ऐसा अद्भुत रूप है कि -

अति आसक्त लाल अलि लंपट, बस कीने बिनुमोलनि ।

(श्रीहितचतुरासी ३४)

बिना मोल के श्रीलालजू बिक गए लाडली जू के रूप को देखकर के; हम बिना नाम के आश्रय के उस रूप को कैसे ध्यान का विषय बना सकते हैं; लाडलीजू के रूप को खींचकर नाम लाएगा । इसलिए नाम पर विशेष ध्यान दीजिये, नाम ही रूप को प्रकाशित करेगा । नाम के साथ धाम का आश्रय और लीलाओं का श्रवण भी

कीजिए । जिस क्षण भावना में श्रीप्यारीजू का रूप प्रकट होगा तो दशा बदल जायेगी -

निरखत नित्यबिहार, पुलकित तन रोमावली ।
आनँद नैंन सुढार, यह जु कृपा हरिवंश की ॥
छिन-छिन रुदन करन्त, छिन गावत आनंद भरि ।
छिन-छिन हहर हसन्त, यह जु कृपा हरिवंश की ॥

अतः वह रूप नाम से ही प्रकट होगा क्योंकि -

'देखिअहिं रूप नाम आधीना ।' (बालकाण्ड-२१)

जपत हरि विबश तव नाम प्रतिपद विमल,
मनसि तव ध्यान तें निमिष नहिं टरिबौ ॥ (श्रीहितचतु.८३)

श्रीलालजू स्वयं विवश होकर 'राधा-राधा' रटते रहते हैं, तो निमिष भर के लिए भी श्रीप्यारीजू का रूप उनके सामने से नहीं हटता; क्योंकि वह निरंतर नाम रटन कर रहे हैं । इसी तरह श्रीलाड़िलीजू निरंतर 'श्याम-श्याम' रटती हैं -

श्यामेति सुन्दरवरेति मनोहरेति
कन्दर्पकोटिललितेति सुनागरेति ।
सोत्कण्ठमह्नि गृणती मुहुराकुलाक्षी
सा राधिका मयि कदा नु भवेत् प्रसन्ना ॥ (श्रीराधासुधा. ३७)

दोनों एक-दूसरे के नाम का स्मरण करते रहते हैं और रूप में डूबे रहते हैं; इसीलिए हमें नामजप पर विशेष ध्यान देना है; आजतक जिस किसी भी महापुरुष को जो भी अनुभूति हुई है वह नाम से हुई है । सीधे हम रूप ध्यान तक नहीं पहुँच सकते हैं ।

प्र०-महाराज जी, मेरे इष्ट श्रीसीतारामजी हैं लेकिन मैं सभी देवी-देवताओं की भी पूजा करता हूँ तो क्या ये अनन्यता है या नहीं ?

समाधान - दो तरह की अनन्यता होती है; जैसे एक गोस्वामी तुलसीदास जी की अनन्य भक्ति और एक वृन्दावन के रसिकों की अनन्य भक्ति । गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीविनयपत्रिका में गणेश, सूर्य, शिव, दुर्गा, गंगाजी आदि सभी देवी-देवताओं का स्तवन करते हैं लेकिन उनसे माँगते यही हैं कि श्रीसियारामजी के चरणों में हमारी रति (प्रेम) हो ।

'माँगत तुलसीदास कर जोरे । बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥'

यह भी अनन्यता है कि सब हमारे इष्ट के ही स्वरूप हैं, हम अन्य देवों की पूजा-वंदना करें किन्तु उनसे यही माँगे कि हमारी अपने इष्ट के चरणों में भक्ति बढ़े, श्रीसीताराम या श्यामा-श्याम के चरणों में हमारा प्रेम हो जाए । दूसरी अनन्यता ये है जो वृन्दावन के रसिकों ने कहा -

रसना कटौ जु अन रटौं, निरखि अन फुटौ नैन ।
श्रवण फुटौ जु अन सुनौं, बिनु राधा यश बैन ॥

श्रीश्यामा-श्याम के अलावा रसना से और किसी का यश नहीं गाना; श्रीश्यामा-श्याम का यश नहीं जिस ग्रन्थ में वह ग्रन्थ नहीं पढ़ना और न ही उसकी चर्चा श्रवण करना -

किं वा नस्तैः सुशास्त्रैः किमथ तदुदितैर्वर्त्मभिः सद्गृहीतै-
र्यत्रास्ति प्रेममूर्तेर्नहि महिमसुधा नापि भावस्तदीयः ।

(श्रीराधासुधानिधि २१६)

अब अपनी स्थिति के अनुसार आपको चयन करना है कि आप किस अनन्यता का निर्वाह कर सकते हो ।